"गोरखबानी" का संत काव्य पर प्रभाव

अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़ की
पी-एच०डी० उपाधि के लिए

शोध प्रबन्ध

शोध सार

2005

निर्देशिका :

डॉ0 मनीषा रानी शर्मा

रीडर एवं प्रभारी
हिन्दी विभाग, वीमेन्स कालेज,
अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय,
अलीगढ़।

शोधार्थी :

शाहाना

हिन्दी विभाग
अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय,
अलीगढ़ - 202002

"गोरखबानी" का संत – काव्य पर प्रभाव

शोध सार

अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय की पी–एच0डी0 की उपाधि के लिए प्रस्तुत शोध का विषय है – "गोरखबानी", का संत–काव्य पर प्रभाव" हिन्दी में प्रस्तुत विषय पर छुट–पुट अध्ययन तो अनेक हुए हैं किन्तु व्यवस्थित और विस्तृत अध्ययन अभी तक नहीं हुआ है। इस अभाव की पूर्ति ही प्रस्तावित शोध का लक्ष्य है।

समग्र अध्ययन को सात अध्यायों में प्रस्तुत किया गया है – विषय प्रवेश, "गोरखबानी" का स्वरूप, "गोरखबानी" का संत–काव्य पर प्रभाव : चिंतन की दृष्टि से, "गोरखबानी" का संत–काव्य पर प्रभाव : भावबोध की दृष्टि से, "गोरखबानी" का संत–काव्य पर प्रभाव : भाषा की दृष्टि से, "गोरखबानी" का संत काव्य पर प्रभाव : साधना–पक्ष और उपसंहार निष्कर्ष।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध के प्रथम अध्याय में विषय प्रवेश के रूप में नाथ सम्प्रदाय की पृष्ठभूमि का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। नाथ सम्प्रदाय की पृष्ठभूमि के आधार पर यह सिद्ध किया गया है कि नाथ सम्प्रदाय के विकास के मूल में वैदिक काल की दो परम्पराएँ रही हैं – आगम और निगम। आगे चलकर इन परम्पराओं पर प्रकाश डालने के सारे प्रयास शास्त्रों के आधार पर ही किये जाते हैं, जबकि सांस्कृतिक परम्पराएँ लोक जीवन में पहले जन्मती है शास्त्रों में स्थान बाद में पाती है।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध के प्रथम अध्याय में वेद, शास्त्र, उपनिषद आदि पर भी विस्तार से विचार किया गया है।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध के इस अध्याय में नाथ सम्प्रदाय की बारह शाखाओं का वर्णन किया है तथा नवनाथों का जिक्र किया है– एकनाथ, आदिनाथ, मत्स्येन्द्रनाथ,

उदयनाथ, दंडनाथ, सत्यनाथ, संतोषनाथ, कूर्मनाथ तथा जालंधरनाथ इत्यादि। यह सूची सुधाकर द्विवेदी ने प्रस्तुत की थी, परन्तु इसमें गोरखनाथ का नाम नहीं है। योग सम्प्रदायाविष्कृति के अनुसार दस मूल पुरुष माने गये हैं जिनमें गोरखनाथ का भी नाम है। विषय प्रवेश में नाथ सम्प्रदाय के विकास को लेकर दो मत प्रस्तुत किये हैं –

(1) नाथ पन्थ का विकास बौद्ध परम्परा से हुआ।

(2) नाथ पन्थ का विकास शैव परम्परा से हुआ।

इसमें पहला मत अधिक उपर्युक्त जान पड़ता है क्योंकि नाथों और बौद्ध सिद्धों की जो सूचियाँ मिलती हैं, उनमें अनेक नाम सामान्य है।

गुरु गोरखनाथ के युग में बौद्ध, शैव, तन्त्र योग और वैष्णव परम्पराओं के प्रतीयमान एक दूसरे का विरोध करते रहते थे। उससे ये परम्पराएँ एक दूसरे के निकट आ गयी थी।

गुरु गोरखनाथ ने कुछ परम्पराओं को अपने पन्थ में मिला लिया था जिनमें शैव, शाक्त, वैष्णव, जैन, बौद्ध धर्म इत्यादि। बौद्धों के बाद सिद्ध हुऐ जो कि बौद्ध सम्प्रदाय की शाखा के अनुयायी थे।

10वीं शती के उत्तरार्द्ध से ही कई सिद्ध ऐसे थे जो शैव तथा बौद्ध दोनों ही पद्धतियों के आचार्य थे और यद्यपि वे किसी एक बौद्ध या शैव– सम्प्रदाय को ही प्रमुख मान्यता देते थे किन्तु दूसरे सम्प्रदायों को भी प्रश्रय देते थे और दूसरे सम्प्रदाय वाले भी उन्हें मान्यता प्रदान करते थे। ऐसे तीन सिद्ध प्रमुख हैं, मत्स्येन्द्र, जालन्धर, काणहपा। मत्स्येन्द्र मूलतया शैव सम्प्रदाय के अनुयायी थे यद्यपि नैपाल में उन्हें पाशुपत शिव तथा तिब्बत में अवलोकितेश्वर का अवतार माना जाता था। जालन्धर के लिए तारानाथ ने भी कहा है कि पूर्व में हाड़ीपा का बौद्ध रूप धारण कर प्रचार करते थे, काणहपा के लिए भी तारानाथ का कहना है कि अन्दर से बौद्ध होते हुए भी बाहर से अबौद्ध पद्धतियों को ग्रहण करते थे और अबौद्ध सम्प्रदायों में भी उनका बड़ा आदर था। ऐसे समन्वयवादी

सिद्ध दोनों ही सूचियों में सम्मिलित कर लिए गये होंगे।

उस समय की साम्प्रदायिक स्थिति इस प्रकार की थी कि कुछ प्रदेशों में वैष्णवों के विरोध में शैव तथा बौद्ध सम्प्रदायों का संयुक्त शिविर स्थापित हो चुका था और दोनों सम्प्रदाय एक दूसरे के देवताओं, पद्धतियों तथा आचार्यों की परम्परा को आत्मसात कर रहे थे।

नाथ सम्प्रदाय स्वतः बौद्ध प्रभावों के प्रति शैव विद्रोह है किन्तु इस विद्रोह के पूर्व इनमें से कुछ सिद्ध वज्रयानी रहे होंगे। कुछ तिब्बती अनुश्रुतियाँ तो स्वतः गोरखनाथ को पहले वज्रयानी बताती हैं। वे शैव बाद में हुऐ थे।

गुरु गोरखनाथ नाथ सम्प्रदाय के प्रर्वतक ही नहीं थे बल्कि नाथ सम्प्रदाय के सबल प्रचारक आचार्य तथा संगठनकर्ता थे। यह नाथ परम्परा और कनफटी साधनाओं की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है और किसी न किसी रूप में पाशुपत लाकुलीश मत से इनका घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है।

नाथ सम्प्रदाय के विषय प्रवेश में नाथों के समय तथा वेशभूषा का वर्णन भी किया गया है।

नाथों का प्रचार 9वीं शताब्दी से 16वीं शताब्दी तक फैला हुआ था तथा आज भी इस सम्प्रदाय के साधु तथा गद्दियाँ भारत में मिलती है। यह भी कहा जा सकता है कि नवनाथ की प्रसिद्धी बहुत पुरानी है जो नव नारायणों के आधार पर ही है। इनके नाम तथा स्थान भिन्न हैं। नव नाथों की भाँति षोडश नाथों तथा द्वादश नाथों की कल्पना भी सम्प्रदाय में है। एक मान्यता यह भी है कि गोरखनाथ जी से पहले योगियों के 18 पंथ थे गोरखनाथ ने इसमें से बारह को नष्ट कर दिया और केवल 6 को स्वीकार किया और अपने नये उपकुलों की स्थापना की। इस प्रकार नाथ सम्प्रदाय की विकास परम्परा चलती रही उसमें कुलों का हेर फेर तो होता ही रहा। कभी कोई कुल अधिक हो गया तथा कभी किसी ने नये कुल को बढ़ा दिया।

वेशभूषा के आधार पर नाथ योगी को स्पष्ट रूप से पहचाना जा सकता है। मेखला, श्रृंगी, सेली, गूदरी, खप्पर, कर्ण–मुद्रा, वंघवर, झोला आदि चिन्ह ये लोग धारण करते थे। नाथ लोग कान फाड़कर कुंडल धारण करते थे इस कारण ये लोग कनफटा योगी भी कहे जाने लगे।

पद्रमावत में मलिक मुहम्मद जायसी ने नाथ योगियों के वेश का सुन्दर वर्णन दिया है। नाथ योगियों का वेश जो आज वह दीर्घ काल से चला आ रहा है। योगी वेश धारण करने वाले रत्नसेन राजा ने हाथ में किंगरी, सिर पर जटा, शरीर में भस्म, मेखला, श्रृंगी, योग को शुद्ध करने वाला धाँधरी चक्र, रूद्राक्ष और अधार धारण किया था कंथा पहनकर हाथ में सोटा लिया था और 'गोरख, गोरख' की रट लगाता हुआ निकल पड़ा था उसने कान में मुद्रा, कंठ में रूद्राक्ष की माला, हाथ में कमण्डल, कंधे में बघम्बर, पैरों में पवरी, बगल में छाता और बगल में खप्पर धारण किया था। इन सबको गेंहुऐं रंग से रंगा जाता था।

इस अध्याय में नाथ सम्प्रदाय के स्परूप तथा हठयोग पर भी विचार किया गया है। नाथ साहित्य में योग का बड़े विस्तार से विवेचन हुआ। नाथयोग को सामान्य रूप से हठयोग कहा गया है। हठयोग के विभिन्न अंगो, उपागों तथा साधनाओं का विवेचन विष्लेषण योग ग्रन्थों का प्रतिपाद्य है। पांतजल योग दर्शन का अष्टांग योग भी नाथ ग्रन्थों में स्वीकार्य है तथा षंडग योग का भी प्रतिपादन हुआ है।

शोध प्रबन्ध के दूसरे अध्याय में 'गोरखबानी' के स्वरूप पर विस्तार से विचार किया गया है। एक लम्बे समय तक उपेक्षित होने के कारण नाथ साहित्य का अधिकांश भाग सुरक्षित न रह सका। फिर भी जो विषय वस्तु प्रकाश में आयी है अथवा अप्रकाशित रूप में सुरक्षित है उससे स्पष्ट है कि नाथ पंथियों ने संस्कृत, हिन्दी, नेपाली तथा बंगला भाषा में साहित्य सृजन किया था। भाषा की कसौटी पर ये रचनाएँ खरी न उतरी हो, किन्तु हिन्दी के विकास में इनका निश्चय ही महत्व है। हिन्दी साहित्य में

गोरखनाथ की चालीस छोटी मोटी रचनाऐं हैं। सबदी, पद, शिष्या दरसन, प्राण, सांकली, नरवेबोध, आत्मबोध, अभैमात्रा जोग, पन्द्रह तिथि, सप्तवार, मछीन्द्र गोरखबोध, रोमावली, ग्यान तिलक, ग्यान चौतीसा, पंचमाला गोरख गणेश गोष्ठी, गोरखदत्त गोष्ठी, महादेव गोरख गुण्ठी, शिष्ट पुरान, दया बोध, जाती भौंरावली, नवग्रह, नवरात्र, अष्ट पराध्या, रहरासि, ग्यान माला, आत्मबोध, वृत, निरंजन पुराण तथा गोरखवचन इत्यादि।

"गोरखबानी" के स्वरूप में विभिन्न मूल ग्रन्थ तथा परिशिष्ट पर विस्तार से विचार किया गया है। "गोरखबानी" के मूल विवेचन से स्पष्ट होता है कि उनका मूल विषय सिद्धान्त विवेचन नहीं है। एक ही बात को कई बार दोहराया गया है तथा रचनाओं में कोई क्रम भी नहीं है। भाषा की दृष्टि से भी रचनाओं में प्रर्याप्त भेद हैं। इसलिए यह कहना बड़ा ही कठिन है कि कौन सा पद गोरख रचित है तथा कौन सा परवर्ती है। जो रचनाऐं गोरखरचित हैं उनमें काफी परिवर्तन भी हुआ है। इनकी रचनाओं में इस्लामी प्रभाव भी है। इनकी रचनाओं में कुछ परवर्ती व्यक्तियों का भी उल्लेख है।

इस शोध प्रबन्ध के तीसरे अध्याय में 'गोरखबानी' के संत काव्य पर प्रभाव का चिंतन की दृष्टि से विवेचन है। इस अध्याय में आत्मा, परमात्मा, माया, जगत आदि का विस्तार से समझाने का प्रयास किया गया है कि किस प्रकार 'गोरखबानी' का चिंतन की दृष्टि से संत काव्य पर प्रभाव पड़ा है।

नाथपंथी साधना के लोकव्यापक प्रभाव ने यद्यपि मध्ययुग की चिन्ता को विशेष रूप से स्पर्श किया है किन्तु वास्तव में नाथ पंथ एक साधना पंथ ही था, बौद्ध सहजयान धर्म की तत्वमीमांसा और व्यवहार की तुलना में नाथ पंथ एक विशुद्ध साधना पंथ ही बना रहा। अद्वैत वेदान्त के शैवागमों से सम्बद्ध सिद्धान्तों का लोक जीवन में स्वागत न हुआ उसका कारण नाथ पंथ में शुष्क साधना का प्रबल आग्रह तथा गृहस्थ जीवन के प्रति अनादर का भाव था? ऐसी स्थिति में नाथपंथी साधना के लोक प्रभावी रूप

से सम्बद्ध संत लोक चिन्तन की दृष्टि से योग और भक्ति का समन्वय स्वर लेकर उपस्थित हुए। यह तत्वचिन्तन अपने मूलरूप में भारतीय दर्शनों की व्यावहारिकता से पूर्णतया सम्बद्ध है तथा उसका उन्मेष विभिन्न परिस्थितियों में हुआ है। यही कारण है कि मूलतत्व के सम्बन्ध में सन्तों के चिन्तन करने का मार्ग पिछले सभी मार्गों से भिन्न है। अनुभव की कसौटी पर कसकर ही संतों ने परमात्मा, आत्मा और जगत माया के सम्बन्ध में अपनी स्थापनाओं को पुष्ट किया है। कबीर कहते हैं इसके लिए उन्हें कहीं जाना नहीं पड़ा, विचार करते ही करते समय का अनुभव हो गया। किन्तु इस अनुभव की पृष्ठभूमि के रूप में संतों के पास तत्वचिन्तन के लिए कौन–सी आधारभूत सामग्री थी, यह भी एक विचारणीय बात है। जिस आध्यात्मिक वातावरण के आधार पर संतों का तत्वचिन्तन सम्भव हुआ मध्ययुग में उसके सूत्र कम से कम उपनिषद अथवा दर्शनग्रन्थ नहीं थे, प्रायः सभी विद्वान इस बात से सहमत हैं।

संत मत को नाना मतों का विकसित रुप स्वीकार किया गया है। महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने भोटिया साहित्य को अनुशीलन के आधार पर चिंतन धारा का प्रवाह बारहवीं शताब्दी तक स्वीकार करते हुए कबीर का सिद्धों से सम्बन्ध स्थापित करने में कठिनाई का अनुभव किया था, किन्तु पं0 अयोध्या सिंह उपाध्याय ने सिद्धों के बाद नाना सम्प्रदाय के साहित्य को विकास की मध्यवर्ती कड़ी मानकर नाथों की काव्य धारा को कबीर से विश्वासपूर्वक जोड़ दिया। डा0 पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल ने 'गोरखबानी' की भूमिका' में उपर्युक्त तथ्य का उल्लेख करते हुए लिखा है – 'जो बात राहुल जी को कठिन जान पड़ी वही उपाध्याय जी को इसलिए सरल लगी कि उनके सामने 'हिन्दी काव्य में योग प्रवाह' शीर्षक मेरा निबन्ध था जो राहुल जी के सामने नहीं था। इस निबन्ध में पहले पहल नाथ योगियों और उनकी कविता का परिचय दिया था। इस संक्षिप्त परिचय से ही विद्वानों ने मान लिया कि नाथ योगियों की 'बानियाँ'' हमारे साहित्य और सांस्कृतिक विकास की लड़ी में एक महत्वपूर्ण कड़ी है।'' ''भक्तिवाद के पूर्व

निःसन्देह यह सबसे प्रबल मतवाद था। इसलिए भक्तिवाद में इनके शब्द और मुहावरे ही नहीं, इनकी पद्धति भी बहुत कुछ आ गयी है।" बाद के सभी लेखकों ने यह स्वकीार किया है कि नाथ मत का सिद्धान्त और साधना दोनों ही दृष्टियों से संत–मत पर पर्याप्त प्रभाव है। परशुराम चर्तुवेदी के अनुसार, "सन्तों की साखियों तथा बानियों के पूर्व रुप नाथ–पंथियों की 'सबदियों' तथा 'जोगेसुरी बानियों' में दीख पड़ते हैं जिनके विषय भी लगभग एक ही ढंग के हैं।"

इस सम्बन्ध में तीन बातें विचारणीय हैं। पहली बात तो यह ध्यान देने की है कि नाथ मत ने संत मत को उस रुप में प्रभावित नहीं किया है जिस रूप में दो सामानान्तर प्रवाहित विचार धाराएँ परस्पर सम्पर्क में आने पर एक दूसरे को प्रभावित करती हैं। नाथ मत और संत मत में पूर्वापर सम्बन्ध है।

दूसरी बात ध्यान देने की यह है कि संत मत नाथ मत का शुद्ध परवर्ती रूप भी नहीं है, अर्थात ऐसा नहीं है कि नाथ–मत की परम्परा ही पन्द्रहवीं शताब्दी में संत–मत के रुप में परिवर्तित हो गयी हो। नाथ–मत की किन्हीं कारणों से, जनता में लोकप्रियता कम हुई और दक्षिण से वैष्णव भक्ति का उदार धार्मिक प्रवाह राघवानन्द और रामानन्द जैसे समन्वयशील महात्माओं के माध्यम से उत्तर भारत में आया। नाथ मत और वैष्णव भक्ति के सम्पर्क से योग और भक्ति समन्वित एक नवीन मत विकसित हुआ जिसे मुख्यतः निम्नवर्गीय जनता का समर्थन प्राप्त था। इस योग भक्ति समन्वित मत को सामान्तयः संत मत कहा गया। उसे नाथ मत का लोकसम्मत स्वरूप कहा जा सकता है।

तीसरी बात ध्यान देने की यह है कि संत मत पन्द्रहवीं शताब्दी से लेकर उन्नीसवीं शताब्दी तक अनेक प्रभावों और परिवर्तनों को स्वीकार करके विकसित हुआ है। अतः नाथ मत का प्रभाव सभी संत–सम्प्रदायों पर एक सा नहीं पड़ा है। परवर्ती सन्तों में कई राम–भक्तों की रसिक परम्परा में प्रभवित है, कुछ सूफी साधना की ओर झुकें हैं और कुछ कृष्ण भक्ति धारा के निकट हैं।

इस शोध प्रबन्ध के चौथे अध्याय में 'गोरखबानी' का संत काव्य पर प्रभाव को भाव बोध की दृष्टि से दर्शाया गया है। इस अध्याय में यह बताया गया है कि जो भाव 'गोरखबानी' के नाथों में मिलते हैं उन्हीं भावों का प्रभाव आगे चलकर सन्तों में मिलता है। पं0 हजारी प्रसाद द्विवेदी ने नाथ मत और संत मत का सम्बन्ध स्थापित करते हुये लिखा है कि – "भक्तिवाद के पूर्व निसन्देह नाथ सम्प्रदाय सबसे प्रबल मतवाद था। इसलिए भक्तिवाद में इनके शब्द और मुहावरें ही नहीं इनकी पद्धति भी बहुत कुछ आ गयी है। बाद के सभी लेखकों ने यह स्वीकार किया है कि नाथ मत का सिद्धान्त और साधना दोनों दृष्टियों से संत मत पर पर्याप्त प्रभाव है।

ऐसी स्थिति में जब सन्तों पर 'गोरखबानी' के प्रभाव की बात की जाती है तो उसका एक ही अर्थ है कि सन्तों की बानियों में ऐसे व विभिन्न प्रभाव है जो नाथ पंथ में भी मान्य है। कबीर को सच्चे साधक कहा गया है तथा यह भी देखा गया है कि संत कबीर के हृदय में गोरखनाथ के प्रति सम्मान का भाव था। जिन तत्वों का विरोध 'गोरखबानी' की रचनाओं में मिलता है वही विरोध आगे चलकर सन्तों में भी देखने को मिलता है कुछ बातें इनमें एक समान है जिनमें गुरु का महत्व, कुछ साधना पद्धतियाँ, तत्वचिन्तन, रहस्यानुभूति, नैतिक और सामाजिक मूल्य इत्यादि।

इस शोध प्रबन्ध के पॉचवें अध्याय में 'गोरखबानी' का संत काव्य पर प्रभाव को, भाषा की दृष्टि से समझाने का प्रयास किया है। नाथों की साखियों और पदों के छन्द अधिकतर उन्हीं छन्दों के विकसित रूप हैं जो सिद्धों ने प्रयुक्त किये है। आगे चलकर ये ही छन्द और साखियाँ सन्तों में देखने को मिलती है।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने गोरखनाथ की भाषा को पूर्वी भाषा के अधिक निकट स्वीकारा है। जिस रूप में 'गोरखबानी' उपलब्ध है यह प्राचीन ही है, ऐसा कहा जा सकता है। डा0 मोहनसिंह द्वारा संपादित 'गोरखबोध' की भाषा डा0 बड़थ्वाल–संपादित उसी ग्रन्थ की भाषा से भिन्न है। इन पदों में पंजाबीपन भी कहीं–कहीं मिलता

है, परन्तु अनेक पदों में ऐसे प्रयोग मिलते हैं जो पूर्वी हैं। 'गोरखबानी' उन प्रारम्भिक कृतियों में से हैं, जिनमें हिन्दी भाषा का प्रारम्भिक स्वरूप स्पष्टतः परिलक्षित होता है।

नाथ–योगियों और प्रारम्भिक सन्तों की भाषा और शैली में पर्याय समानता है। कबीरदास ने मुख्यतः 'साखी' और 'शब्द' लिखा है। साखियों की रचना का प्रारम्भ बताते हुए परशुराम चतुर्वेदी ने कहा है – "हो सकता है कि इनकी रचना की परम्परा गुरु गोरखनाथ आदि जोगियों के आविर्भाव काल में आरम्भ हुई हो, क्योंकि खोज में कभी–कभी 'जोगेश्वरी साखी' जैसे पद्य–संग्रह भी मिल जाते हैं। जहाँ तक शब्द का प्रश्न है, 'गोरखबानी' में भी सबदियाँ हैं। इसी प्रकार 'चौंतीसा' और 'पद' भी 'गोरखबानी' में हैं। कबीर द्वारा प्रयुक्त अन्य काव्य रूपों की भी लोक–प्रचलित परम्परा ही होगी। इसी लोक–परम्परा से नाथों ने भी अपने 'काव्यरूप' चुने होंगे। सन्तों ने भी नाथ–योगियों की भाँति मुक्तक शैली का प्रयोग किया है। दोनों में चोट करने वाली शब्दावली प्रयुक्त है। उलटवासियों की रचना नाथयोगियों ने भी की है। कबीर की कोई उलटवांसियाँ ठीक उसी प्रकार की हैं जिस प्रकार की गोरखनाथ की हैं। प्रतीक शैली का प्रयोग नाथों और सन्तों में समान रूप से हुआ है। अनेक स्थानों पर गोरखनाथ और कबीर के कथनों में अद्भुत साम्य है –

गुरु गोरखनाथ – हिन्दी आबै राम को मुसलमान खुदाई।
जोगी आप अलष को, तहाँ राम अछैन वुदाइ।।

कबीर सहाब – हिन्दू मूये राम कहि, मुसलमान खुदाई।
कहैं कबीर सौ जीवता, दुई मैं कढ़ न जाइ।।

कबीर साहब – मन लागा उनमन सौं गगन पहुंचा जाइ।
देख्या चन्द विहूंणा चांदिणा, तहाँ अखल निरंजन राई।

इस शोध प्रबन्ध के छठें अध्याय में 'गोरखबानी' का संत काव्य पर प्रभाव साधना पक्ष का विवेचन है। साधना की दृष्टि से नाथों का सन्तों पर गहरा प्रभाव पड़ा

है जो साधना पद्धत्तियाँ हमें नाथों में देखने को मिलती है वही साधना पद्धतियाँ सन्तों में भी पायी जाती है। नाथों तथा सन्तों ने अपनी समकालीन साधना पद्धत्तियों, मतों, सम्प्रदायों का खंडन–मंडन योग साधना और साध्य नाथ तथा भक्ति और भगवान को ध्यान में रख कर किया है।

इस प्रकार प्रस्तुत शोध प्रबंध में संत काव्य पर 'गोरखबानी' के प्रभाव के विश्लेषण के साक्ष्य में नाथों के प्रभाव का व्यवस्थित अध्ययन है। भावबोध और भाषा की दृष्टि से यह प्रभाव सबसे ज्यादा गहरा है।

————————————

"गोरखबानी" का संत काव्य पर प्रभाव

अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़ की
पी-एच०डी० उपाधि के लिए

शोध प्रबन्ध

2005

निर्देशिका :

डॉ0 मनीषा रानी शर्मा

रीडर एवं प्रभारी
हिन्दी विभाग, वीमेन्स कालेज,
अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय,
अलीगढ़।

शोधार्थी :

शाहाना

Forwarded
02/7/05
Chairman
Department of Hindi
Aligarh Muslim University
ALIGARH

हिन्दी विभाग
अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय,
अलीगढ़ - 202002

DEPARTMENT OF HINDI
FACULTY OF ARTS
ALIGARH MUSLIM UNIVERSITY, ALIGARH-202 002

CHAIRMAN

Telex : 564-230 AMU IN
Phones : Off. 2700920, 2700921, 2700922 Ext. 1460, 1461
Res. (0571) 2721866

36

CERTIFICATE

Certified that Ms. Shahana has been a regular Research Scholar in the Department of Hindi for a period of two years from the date of her admission, i.e. 31.10.1998. She has completed her Ph.D. thesis on the topic "*Gorakhbani ka Sant Kavya Par Prabhaw*" under the supervision of Dr. (Smt.) Manisha Rani Sharma.

02/7/05

(Prof. U.S. Srivastava)
Chairman

Manisha Rani Sharma
Ph D
Reader and Incharge
Department of Hindi
Women's College,
Aligarh Muslim University
Aligarh. 202 002

CERTIFICATE

This is to certify that the thesis entitled **"Gorakhbani Ka Sant Kavya Per Prabhav"** has been written by **'Mrs. Shahana'** under my supervision. It is an original research work and is suitable for submission for the award of Ph.D. degree in Hindi. The candidate has fulfilled all conditions laid in the ordinance of Aligarh Muslim University, Aligarh.

MSharma

(Dr. Manisha Rani Sharma)
Supervisor

Residence:
Sh. Deoraha Kuteer
Dodhpur, Aligarh.

Telephone:
(Off) 0571- 2403541
(Resi) 0571- 2401182

Fax:
0571- 2703221

विषय सूची

''गोरखबानी'' का संत काव्य पर प्रभाव

प्राक्कथन

अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय की पीएच0डी0 की उपाधि के लिए प्रस्तुत शोध का विषय है – ''गोरखबानी'' का संत काव्य पर प्रभाव।

इस धारणा का अब ऐतिहासिक महत्व ही शेष है कि नाथों का साहित्य धार्मिक साहित्य है। नाथ साहित्य और विशेषतः 'गोरखबानी' का साहित्यिक महत्व अब सिद्ध है। गोरखनाथ युगपुरुष थे। उन्होंने इस देश की सांस्कृतिक एकता को समन्वय का ठोस आधार प्रदान किया। गोरखी शक्ति तो जनजीवन में पाशविक धरातल से उबारने के लिए प्रख्यात रही है। गोरखनाथ केवल एक सम्प्रदाय के प्रर्वतक नहीं थे बल्कि वे एक ऐसी संस्कृति के जो शताब्दियों तक जन जीवन को प्रभावित करती रही है और जिसकी छाप आज भी भारतीय जीवन के अनेक पहलुओं पर देखी जा सकती है। 'गोरखबानी' एक ऐसी रचना है जिसने एक परम्परा का विकास किया और वह परम्परा है– संत काव्य परम्परा। 'गोरखबानी' को समझे बिना संत काव्य की समझ बहुत अधूरी रहेगी। संवेदना और शिल्प दोनों दृष्टियों से 'गोरखबानी' का संत काव्य पर बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा है। इस प्रभाव का व्यवस्थित अध्ययन हिन्दी शोध के क्षेत्र में अभी तक नहीं हुआ है। स्फुट अध्ययनों की बात और है। हिन्दी शोध के इस अभाव की पूर्ति ही प्रस्तावित शोध का लक्ष्य है।

समग्र अध्ययन शोध प्रबन्ध के सात अध्यायों मे व्यवस्थित है। शोध प्रबन्ध का प्रथम अध्याय विषय प्रवेश के रूप में है। इसमें नाथ सम्प्रदाय की पृष्ठभूमि का विवेचन किया गया है। द्वितीय अध्याय में गोरखवानी के स्वरूप का विवेचन है। चिंतन

की दृष्टि से संत काव्य पर नाथ परम्परा का गहरा प्रभाव परिलक्षित होता है। 'गोरखबानी' का संत काव्य पर प्रभाव चिंतन की दृष्टि से 'शीर्षक' तृतीय अध्ययन में इस प्रभाव के अध्ययन का प्रयास किया गया है। भाव बोध की दृष्टि से संत काव्य पर प्रभाव 'गोरखबानी' का अध्ययन चौथे अध्याय का विषय है। पाँचवे अध्याय में भाषा की दृष्टि से 'गोरखबानी' का संत काव्य पर जो प्रभाव पड़ा है उसके विश्लेषण का प्रयास किया गया है। अध्याय छः में साधना पक्ष का अध्ययन है। अन्तिम अध्याय उपसंहार स्वरूप है उसमें समग्र अध्ययन के निष्कर्ष हैं।

प्रस्तुत शोध कार्य आदरणीय डा० मनीषा रानी शर्मा, रीडर एवं प्रभारी, हिन्दी विभाग, वीमेन्स कालेज, अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़ के निर्देशन में सम्पन्न हुआ है। उनके निर्देशन के अभाव में यह शोध कार्य सचमुच असम्भव था। इसके लिए मैं सदैव उनकी ऋणी रहूँगी।

प्रस्तुत शोध कार्य अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के अध यक्ष आदरणीय आचार्य डा0 उदयशंकर श्रीवास्तव जी की छत्रछाया में पूर्ण हुआ है। इस अवसर पर मैं उनके प्रति आभार व्यक्त करती हूँ।

अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के आचार्य एवं कला संकाय के अधिष्ठाता आदरणीय आचार्य कृष्णमुरारि मिश्र ने अपनी असाधारण व्यस्तताओं के बावजूद मुझे सदैव तत्पर सहयोग प्रदान किया है। इसके लिए मैं उनके प्रति सदैव आभारी रहूँगी।

अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के सभी गुरुजनों का आर्शीवाद सदैव मुझे मिलता रहा है। इस अवसर पर मैं उन सभी के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करती हूँ।

प्रस्तुत शोध के लिए मेरी माता श्रीमती राबिया बेगम और पिता श्री अब्दुल अहमद ने मुझे निरन्तर प्रोत्साहित किया । उनका आर्शीवाद मेरा संबल रहा है। उनसे

उऋण होना मेरे लिए कभी संभव नहीं है। इस शोध कार्य को पूर्ण करने के लिए मेरे पति श्री अब्दुल सत्तार ने मुझे निरन्तर प्रेरित किया । इस शोधयात्रा में उनका अनेक प्रकार का सहयोग सदैव स्मरणीय है।

प्रस्तुत शोध कार्य के टंकण का दायित्व मैसर्स शेखर कम्प्यूटर्स ने वहन किया है। एतदर्थ मैं उनका साधुवाद व्यक्त करती हूँ।

प्रस्तुत शोध कार्य को पूर्ण करने में हमारे मौलाना आजाद पुस्तकालय के श्री राकिम अली ने मुझे महत्वपूर्ण सहयोग दिया है। इसके लिए मैं उनका आभार व्यक्त करती हूँ।

Shahana
शाहाना

अध्याय : 1

विषय प्रवेश

(1) नाथ सम्प्रदाय की पृष्ठभूमि :

हमारे देश में मुख्यत दो परम्पराएँ स्वीकृत रहीं हैं – निगम और आगम। इन परम्पराओं पर इनकी उपधाराओं के साथ विचार करते ही अनेक ऐसे प्रश्न उठ खड़े होते हैं जिनका समाधान दुष्कार हो जाता है। पहला प्रश्न यह है कि क्या इन दोनों परम्पराओं के स्रोत वेद हैं अथवा नहीं? अर्थववेद तांत्रिक परम्पराओं से स्पष्टतः सम्बद्ध स्वीकार किया जाता है। दूसरी ओर श्रुति के विषय में प्रसिद्ध है "श्रुतिश्च द्विविधा वैदिकी तांत्रिकी च"। वेद के समान ही तंत्र भी प्रमाण है। पं0 बलदेव उपाध्याय के अनुसार "तंत्रों के दार्शनिक विचार उतने ही उदान्त और प्रांजल हैं जितने षड दर्शनों के तथा उनकी साधना–पद्धति मूलतः उतनी ही पवित्र और उपादेय है जितनी वेदों की। उनके विचार से अधिकांश तंत्र वेदसम्मत है तथा उनकी प्रमाणिकता–साधन और साध्य की दृष्टि से अक्षुण्ण है। इससे इतना तो स्पष्ट है कि तांत्रिक परम्पराएँ कम से कम वेद विरोधी नहीं हैं। यह भी उल्लेखनीय है कि सभी पुराने विद्वान् अर्थववेद की जो तांत्रिक परम्परा की दृष्टि से महत्वपूर्ण है, गणना वेदों में नहीं करते हैं और वेदत्रयी को ही मान्यता देते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि निगम और आगम की दो परम्पराएँ रही है जो कालान्तर में परस्पर निकट आ गई।

इस सारे सिलसिले में एक बात यह पता चलती है कि परम्पराओं पर प्रकाश डालने के सारे प्रयास शास्त्रों के आधार पर किये जाते हैं, लोक उपेक्षित होता रहा है, जबकि सांस्कृतिक परम्पराएँ लोक जीवन में पहले जन्मती हैं शास्त्रों में स्थान बाद में

पाती हैं। आदित्य मानव समाजों में धर्म का स्वरूप आनुष्ठानिक ही रहा होगा। प्रतियाँ भय से ही उपजी होंगी। अनुष्ठानों का एक प्रधान लक्ष्य मानव के चित्तीय तेजस को वृत्तयात्मक व्यवहार से मुक्त करना रहा है। इस प्रकार योग, तंत्र और भक्ति का उद्गम मनुष्य का आदिमतम जीवनहै। ज्ञान व्यवहार का विकास स्पष्टतया परवर्ती है। तंत्र, भक्ति और योग की परम्पराओं का उद्गम एक है, समान्य है, इसलिए ये परम्पराएँ परस्पर निकट और दूर रही हैं। इससे यह भी सिद्ध होता है कि किन्ही भी धार्मिक परम्पराओं में परस्पर ऐसा विरोध जो अत्यधिक हिंसक रूप ग्रहण कर लेता है परम्पराओं के वैशिष्ट्य के कारण कम होता है इतर कारणों से अधिक होता है। शैवों और वैष्णवों का विरोध प्रख्यात रहा है। लेकिन उल्लेखनीय यह भी कम नहीं है कि पांचरात्रों के भागवत सम्प्रदाय की एक धारा शैव भागवत भी रही है। बौद्ध धर्म के प्रारम्भ में यह सोचा भी नहीं गया होगा कि बौद्ध तंत्र भी विकसित होंगे या बौद्ध छिनमस्ता के उपासक होंगे।[1]

साधारणतया ऐसा माना जाता है कि उपनिषद आरण्यकों के परिशिष्ट के रूप में हैं और आरण्यक ब्राह्मणों के उपग्रन्थ हैं। लेकिन यह कहना ठीक नहीं होगा कि ब्राह्मणों आरण्यकों और उपनिषदों को सदैव मूलतः भिन्न शास्त्रों के रूप में ही माना गया है। कई स्थानों के जिस विषय के सम्बन्ध में हम यह आशा करते हैं कि वह ब्रह्मणों में वर्णित होना चाहिए वह आरण्यकों में उपलब्ध होता है और आरण्यकों की सामग्री को उपनिषदों की शिक्षाओं में समाविष्ट कर दिया गया है। इससे यह सिद्ध होता है कि यह तीनों साहित्य एक ही विकास श्रृंखला की कड़ियाँ हैं और एक ही साहित्य के रूप में इनको स्वीकार किया गया है, यद्यपि उनके वर्ण्य–विषय विभिन्न हैं। आरण्यक वानप्रस्थों के वृद्धावस्था में गृहस्थ जीवन के उपरान्त प्रयोग हेतु बनाए गये हैं और उपनिषद विश्वबंधन का परित्याग करने वाले मुमुक्षु सन्यासियों के लिए निर्दिष्ट किए गये हैं।

---

1. डॉ0 मनीषा शर्मा, गोरखबानी– परम्परा और काव्यत्व, पृ0 14, 15

उपनिषदों को प्राचीन भारतीय दार्शनिकों ने वैदिक साहित्य के रूप में स्वीकार किया जिसमें ज्ञानमार्ग की चर्चा है, जबकि वेदों का विषय कर्मकाण्ड है। पौराणिक हिन्दू मतानुसार वेद शास्त्रों में जो कुछ लिखा गया है वह धार्मिक कर्तव्यों के विधि के रूप में अर्थात उन कर्तव्यों के विधान के रूप में है जिनको करना चाहिए और उन कार्यों के निषेध के रूप में हैं जिनको निषिद्ध कर्म की संज्ञा दी गई है। कथा अथवा दृष्टांतों के रूप में जो कुछ कहा गया है वह भी इस हेतु से है कि उनसे मनुष्य धार्मिक कर्तव्यों का ज्ञान प्राप्त करे और जो नहीं किये जाने वाले निषिद्ध कर्म है उनके द्वारा मिलने वाले कष्ट के फल को दृष्टि में रखते हुए शिक्षा प्राप्त करे।

किसी व्यक्ति को वैदिक निर्देशों के ऊपर शंका करने का अधिकार नहीं है क्योंकि वेद तर्कों से परे हैं और क्योंकि बुद्धि वैदिक–विधि–विधान और ज्ञान को समझने में समर्थ नहीं है। अतः वेद ईश्वरीय आदेश और निषेध के रूप में प्रकट किये गये हैं जिससे कि मनुष्य मात्र आनन्द का सत्य मार्ग धारण कर सके। अतः वैदिक शिक्षा कर्म मार्ग की ओर अग्रसर करती है और वैदिक यज्ञ कर्मकाण्ड आदि करने की प्रेरणा देती है। दूसरी ओर उपनिषद किसी कर्म काण्ड का विधान नहीं करती वरन् शाश्वत् सत्य एवं यर्थात का निरूपण करती है जिसके ज्ञान से मनुष्य बन्धनों से मुक्त हो जाता है। हिन्दु दर्शन के ज्ञाता इस बात से भली–भाँति अवगत हैं कि वेदों के अनुयायी और वेदान्ती यर्थात उपनिषद मतावलम्बी व्यक्तियों में सदैव से तीव्र विवाद रहता आया है। वेदों के मर्मज्ञ अनेक स्थलों के आधार पर इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं कि उपनिषद वेदों से भिन्न कोई वस्तु नहीं है और उनका मत यह नही है कि कर्मकाण्ड नहीं करना चाहिए। इनके अनुसार उपनिषदों में कर्मकाण्ड को स्थान न देते हुए सुपात्र जिज्ञासुओं को ज्ञान के मार्ग के द्वारा शाश्वत् सत्य की अनुभूति का आनन्द प्राप्त करती है। उपनिषदों के महान भाष्यकार श्री शंकराचार्य कहते है कि उपनिषद उन ज्ञानियों के लिए है जो सांसारिक एवं भौतिक सुखों से उपरत हो गये हैं और जिनके लिए वैदिक कर्मकाण्ड का

कोई विशेष प्रयोजन नहीं रहा है। ऐसे सुपात्र व्यक्ति नहीं भी हों, चाहे वे विद्यार्थी हों, गृहस्थ हों अथवा संन्यासी, उनके अन्तिमतः मोक्ष के लिए उपनिषद सत्य ज्ञान का प्रकाश देती है जो वैदिक कर्मकाण्ड अनुष्ठाानादि करते हैं। वे भिन्न स्तर पर है, परन्तु जिनके हृदय में कोई अभिलाषा और कामना नहीं रह गयी है और जो निष्काम भक्ति द्वारा मोक्ष प्राप्त करना चाहते हैं, उपनिषद् का अध्ययन करने के लिए वे ही सुयोग्य पात्र है।[1]

भारतीय परम्परा के संप्रदायों को दो रुपों में देखा जा सकता है – आस्तिक और नास्तिक । यद्यपि महान वैयाकरण पाणिनी ने 'नास्तिक' शब्द का अर्थ किया है– परलोक में विश्वास न रखने वाला और इसलिए पाणिनी के मतानुसार 'आस्तिक' शब्द का अर्थ निर्धारित किया है। 'वेदों की सर्वथा निर्दोषता और उनकी चरम प्रामाणिकता में विश्वास रखने वाला। कदाचित इस परम्परा को सबसे अधिक सहारा मिला स्मृतिकार मनु से जिनकी घोषणा थी एक वेदनिन्दक ही नास्तिक है (नास्तिक वेदनिन्दक)। जो भी हो, इस परम्परा ने गहरी जड़ पकड़ी और भारतीय दर्शन के क्षेत्र में आस्तिकता की कसौटी 'वेदों की चरम प्रामाणिकता की स्वीकृति' ही बन गई। वैदिक रूढ़िवाद के पक्ष में पूर्वाग्रह इस परम्परा के पीछे स्पष्ट है क्योंकि आखिरकार बौद्धों और जैनों के भी अपने–अपने धर्मग्रन्थ थे और उनकी दृष्टि में तो वेद–अनुयायी ही नास्तिक ठहरते हैं। दूसरे कई दार्शनिक सम्प्रदायों के बारे में यह बात भी सच है कि यद्यपि उन्हें वेद–भक्त अर्थ में आस्तिक मान लिया गया है। उनकी मूलभूत दार्शनिक मान्यताओं को वेदों से कुछ विशेष लेना देना नहीं।

इस प्रकार इस परम्परागत वर्गीकरण की उपयोगिता की सीमाबद्रता स्पष्ट है। फिर भी इसका सहारा लेकर चलने में एक लाभ है– इसमें कम से कम यह पता चलता है कि वेदों की प्रामाणिकता के प्रति दृष्टिकोण ने भारतीय दर्शन के क्षेत्र में

---

1. डॉ0 एस0एन0 दासगुप्ता, भारतीय दर्शन का इतिहास, पृ0 28–30

कितने महत्व की भूमिका अदा की है।

तीन सम्प्रदायों को नास्तिक घोषित किया गया है और इसमें संदेह नहीं कि यह तीनों ही वेद–विरोधी हैं। ये हैं –

1. भौतिकवादी दर्शन, जिसमें लोकायत, चार्वाक अथवा बार्हस्पत्य नाम दिया गया है।
2. कई ऐसे दार्शनिक सम्प्रदाय जो कम से कम औपचारिक रूप से बुद्ध अनुयायी होने का दावा करते थे और इसलिए 'बौद्ध' कहलाए।
3. एक दूसरा धार्मिक–दार्शनिक सम्प्रदाय जो कदाचित् बौद्ध सम्प्रदाय से भी पुराना है और जिसका नाम है – 'जैन' (जैन शब्द बना है 'जिन' शब्दों से, जिसका अर्थ है विजेता अर्थात वह जिसने अपनी वासनाओं का दमन करके अपने पर विजय प्राप्त कर ली है)।

जिन छः सम्प्रदायों को आस्तिक घोषित किया गया है, वे हैं –

1. 'पूर्वमीभांसा' अथवा 'मीमांसा'।
2. 'वेदान्त' जिसे 'उत्तर मीमांसा' भी कहा गया।
3. 'सांख्य'
4. 'योग'
5. 'न्याय'
6. 'वैशेषिक'

इन छः सम्प्रदायों में से पहले दो के लिए ही– अर्थात् मीमांसा और वेदान्त के लिए ही– वेद की प्रामाणिकता सचमुच निर्णायक महत्व रखती है। शेष चार को वेद–भक्त क्यों माना गया इस पर हमें विचार करना है। लेकिन इस सम्बन्ध में स्पष्ट ही सबसे पहले प्रश्न उठता है कि ये वेद क्या हैं जिनकी प्रामाणिकता को भारतीय दर्शन

में इतना महत्व दिया गया है।[1]

वैदिक युग के प्रारम्भ में अनेक धर्म रहे हैं जिनमें शैव, शाक्त, वैष्णव, जैन धर्म की विशेषता, जैसा कि उसके नाम से प्रकट है, उसकी व्यवहारिक उपदेश में पाई जाती है। वह जो साधना निर्धारित करता है उसकी प्रमुख विशेषता उसकी अत्यधिक कठोरता है। यह कठोरता न केवल संन्यासी के लिए अभिप्रेत साधना में पाई जाती है बल्कि गृहस्थ के लिए निर्धारित साधना भी अपेक्षाकृत कठोर ही है। अनेक दर्शनों की तरह जैन दर्शन भी न अकेले ज्ञान पर जोर देता है ओर न अकेले आचरण पर, बल्कि दोनों ही पर जोर देता है। इनके अलावा वह व्यवस्था की भी आवश्यकता बाताहै। वह 'सम्यक् दर्शन' (आस्था), सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चरित्र को त्रिरत्न अर्थात जीवन के तीन बहुमूल्य सिद्धान्त बताता है। इनमें से पहला स्थान सम्यक् दर्शन को दिया गया है क्योंकि यदि आस्थाएँ भ्रान्त है, जहॉ तक उसकी नीति का अन्तिम लक्ष्य मनुष्य के व्यक्तित्व का विकास है, निम्नलिखित प्रार्थना जैन धर्म की शिक्षा के समाजिक पक्ष पर इसके साथ ही उसकी अत्यधिक सहिष्णुता को भी स्पष्टतः प्रकट करती है। राजा विजयी और सदाचारी हो। उपयुक्त काल में सदैव वर्षा हो। रोग का नाश हो और अकाल और चोरी कहीं न हो। जैन धर्म विश्व के सारे प्राणियों को पूर्ण सुख प्रदान करे।

जैन धर्म भी दो प्रकार की साधना बताता है। एक गृहस्थ के लिए और दूसरी संन्यासी के लिए, और दूसरी को पहली से श्रेष्ठ मानता है। स्वभावतः संन्यासी के नियम अधिक कड़े हैं और इसलिए उन्हें महाव्रत तथा गृहस्थ के नियमों को अणुव्रत कहा गया है। इस प्रकार, अनेक व्रतों में से तो गृहस्थ से तो केवल सन्तोष की माँग की गई है जबकि संन्यासी के लिए पूर्ण अपरिग्रह पर जोर दिया गया है, जिससे वह किसी भी भिक्षापात्र तक को अपनी कही कह सकता। लेकिन जैन धर्म में गृहस्थ और संन्यासी–जीवन की दो व्यवस्थाएँ, बौद्ध धर्म की अपेक्षा जो पहली की अपेक्षा करते हुए दूसरी को

---

1. डॉ0 चटोपाध्याय, भारतीय दर्शन सरल परिचय, पृ. 61–63

महत्व देता है, अधिक घनिष्ट रूप से जुड़ी हुईं हैं। उदाहरणार्थ, वह साधना के उक्त दो रूपों को एक या अधिक बातों से संयुक्त करने की अनुमति दे देता है, जैसे– एक व्यक्ति गृहस्थ रहते हुए ही केवल भोजन के मामले में संन्यासी के ऊँचे आदर्श का अनुसरण कर सकता है। इस प्रकार यह गृहस्थ और संन्यासी की साधानाओं के बीच अन्तर प्रकार का नहीं बल्कि केवल मात्रा का है।

जीवन का लक्ष्य कर्म से छुटकारा पाना है। अन्य भारतीय दर्शनों की तरह जैन धर्म भी पुर्नजन्म में विश्वास करता है लेकिन पुर्नजन्म के कारण भूतकर्म की उसकी धारणा अन्य दर्शनों की अपेक्षा भिन्न है। यहाँ कर्म को पौदगलित माना गया है जो जीवन के अन्दर पूर्णतः प्रविष्ट होकर उसे नीचे संसार में खींच देता है, जैसे ताप लोहे से और जल दूध से संयुक्त हो सकता है वैसे ही कर्म जीवन से संयुक्त हो जाता है और इस प्रकार कर्म से संयुक्त जीव बन्धन में पड़ा हुआ जीव कहलता है। जैसे अधिकांश हिन्दू–विचारधारा में वैसे ही यहाँ भी आदर्श शुभाशुभ से परे पहुँचाना है और इसलिए पुण्य और पाप दोनों को बन्धन का कारण माना गया है। हांलाकि इनसे होने वाले बन्धन परस्पर भिन्न प्रकार के है। जब समुचित साधना से सम्पूर्ण कर्म समाप्त हो जाता है और जीवन 'सर्वज्ञता की ज्योति से पूर्णतः देदीग्यमान' हो जाता है तब वह मुक्त हो जाता है। जब अन्त में मृत्यु के बाद वह शरीर के बंधन से छूट जाता है तब वह ऊपर उठता हुआ जगत के जिसे ऊपर लोकाकाश कहा गया है, शिखर पर पहुँच जाता है और वही वह सदैव शान्ति और आनन्द की अवस्था में टिका रहता है। उसके बाद वह सांसारिक बातों की चिन्ता में तो नहीं पड़ता, फिर भी अपना प्रभाव अवश्य डालता रहता है क्योंकि जो अभी उसकी स्थिति की प्राप्ति के लिए प्रयत्न कर रहे हैं। उनको वह सदैव प्राप्त आदर्श के लिए उदाहरण के रूप में प्रेरणा देता रहेगा।

ज्ञान प्राप्ति से लेकर जब तक देवत्व की प्राप्ति (सवमुक्त जीवन देता है) नहीं हो जाती, जब तक की अवधि में जीवन में नये कर्म का प्रवेश नहीं होता है।

ज्ञान–प्राप्त पुरुष सक्रिय जीवन बिता सकता है परन्तु जैन–धर्म के अनुसार उसकी सक्रियता उस पर वैसा प्रभाव तक नहीं डालती जैसा निःस्वार्थ क्रिया अन्यों पर डालती है जैसे बौद्ध–धर्म में वैसा ही यहाँ भी इस अवधि में व्रतों पुरुषों को 'अर्हत' कहा जाता है और मोक्ष–प्राप्ति के बाद उसे 'सिद्ध' माना जाता है। इससे स्पष्ट है कि यहाँ अर्हत की अवस्था जीवन–मुक्ति के हिन्दू के तुल्य है।[1]

जैन धर्म के बाद बौद्ध धर्म का प्रादुर्भाव हुआ एक प्रारम्भिक बौद्ध धर्म दूसरा उत्तरकालीन। प्रारम्भिक बौद्ध–धर्म में कुछ अस्पष्टता थी। इसअस्पष्टता के साथ इस धर्म के न केवल अपनी जन्मभूमि के अन्दर बल्कि विदेशों में भी व्यापक और द्रुत प्रसार ने मिलकर कालान्तर में इसके अनुयायियों में बड़े मतभेद पैदा कर दिये। बौद्ध परम्परा में अनेक सम्प्रदायों का उल्लेख हुआ है। कहते हैं कि अकेले भारत के अन्दर उनकी संख्या अठारह तक पहुँच गई थी लेकिन यहाँ केवल उनकी ही चर्चा की जा रही है जो उनमें से सबसे महत्वपूर्ण है। विशेष रूप से उनकी जिनका हिन्दू और जैन–धर्म के ग्रन्थों में समान से उल्लेख हुआ है और इसलिए जिनको भारतीय विचारधारा में महत्वपूर्ण माना जाता है।

उत्तरकालीन बौद्ध–धर्म के अन्तर्गत जितने मत है उनको मोटे तौर से दो वर्गों में रखा जा सकता है जो हीनयान और महायान के नाम से प्रसिद्ध है। इन नामों की विभिन्न व्याख्याएँ दी जाती है, परन्तु सबसे सामान्य यह है कि 'हीनयान' निर्वाण का हीन मार्ग है और 'महायान' महा मार्ग है। 'हीन' शब्द के प्रयोग से स्पष्ट है कि ये नाम महायान के अनुयायियों के द्वारा रखे गए है। इनमें से हीनयान का जन्म पहले हुआ, परन्तु इनमें अन्तर तिथि मात्र का ही नहीं है। इनके दार्शनिक और नैतिक दृष्टिकोणों में भी बहुत अन्तर है। उदाहरणार्थ हीनयान के अनुयायी ब्रह्म वस्तुओं की सत्ता में विश्वास करते है। सत्ता की उनकी धारणा चाहे जो हो और इस वजह से उन्हें सर्वास्तित्ववादिन

---

1. प्रो0 हरेन्द्र नाथ शर्मा, भारतीय दर्शन की रूपरेखा, पृ0 167–170

कहा गया है। महायान के अनुयायी इसका विपरित मत अपनाते हैं। एक अन्य महत्वपूर्ण अन्तर यह है कि हीनयान मनुष्य को संसार के बन्धन से अपने को छुड़ाने का उपाय बताकर ही सन्तोष कर लेता है जबकि महायान यह उपदेश देता है कि बोधिसत्वप्राप्त पुरुष को निरन्तर जगत के आध्यात्मिक कल्याण के लिए काम करते रहना चाहिए। बौद्ध–धर्म के इन दो रुपों के मध्य महत्वपूर्ण पक्षों में मूलभूत अंतर है। इसमें संदेह नहीं कि हीनयान की अपेक्षा महायान पर परम्परागत हिन्दू धर्म का गहरा प्रभाव पड़ा है। हिन्दी धर्म की पौराणिकता से भी महायान अछूता नहीं रहा है। उदाहरण के लिये भविष्य बुद्ध की कल्पना को लिया जा सकता है।

महायान के विशेष सिद्धान्तों को प्रारम्भिक बौद्ध–धर्म के अस्फुट विचारों से विकसित दिखाना बिल्कुल भी कठिन नहीं है। महायान के प्रवक्ताओं का स्वयं भी यही मत था। उन्होंने कहा कि बुद्ध के उपदेश में निहित सम्पूर्ण सत्य को उन्हीं का सिद्धान्त प्रस्तुत करता है और हीनयान को सम्प्रदायों में पाये जाने वाले रूपान्तरों का कारण उन्होंने यह बताया है कि या तो बुद्ध ने कम योग्यता वाले शिष्यों की बुद्धि को देखते हुए अपने उपदेश में कुछ परिवर्तन कर दिये या वे शिष्य ही उनके उपदेश के पूरे अर्थ को पकड़ने में असमर्थ रहे हैं।

सच्चाई जो भी हो बौद्ध धर्म के इन दोनों ही रूपों में कई महत्वपूर्ण नवीनताएँ समान रूप से दीख पड़ती हैं ओर इनमें से किसी को भी बुद्ध के मूल उपदेश को हूबहू प्रस्तुत करने वाला नहीं माना जा सकता।

इस काल के अनेक बौद्ध–ग्रन्थ संस्कृत में लिखे गये हैं। उनमें से कुछ शायद मूल पालि ग्रन्थ के रूपान्तर हैं जिससे प्रकट होता है कि बौद्ध धर्म ने धीरे–धीरे अधिक पंडिताऊ रूप अपना लिया था। हाँलाकि इसका मतलब यह नहीं समझना चाहिए कि एक लोकप्रिय धर्म के रूप में इसका अब अस्तित्व समाप्त हो गया था। जैसा कि सर्वविदित है – बुद्ध ने अपने उपदेश के व्यवहारिक परिणामों के ऊपर बल देना अधिक

पसन्द किया था और उनमें निहित सिद्धान्त को उपेक्षित छोड़ दिया था, लेकिन अब सिद्धान्त में रुचि इतनी अधिक बढ़ जाती है कि उसकी जैसी तीव्रता दर्शन के सम्पूर्ण इतिहास में अन्यत्र शायद ही कहीं मिले। इस बात का कारण वह तीव्र पारस्परिक विरोध भी कम नहीं है जो धीरे–धीरे बौद्धों और उनके हिन्दू आलोचकों के मध्य पैदा हो गया था। यह पारस्परिक विरोध ऐसा था जिससे पक्ष और विपक्ष दोनों ही का लाभ हुआ और जिसके द्वारा सम्पूर्ण भारतीय चिन्तन इतना अधिक समृद्ध और वैविध्यपूर्ण हो गया जितना अन्यथा न हुआ होता।

दार्शनिक सिद्धान्त के सबके सब विभिन्न रूप वास्तववादी भी और प्रत्ययवादी भी– स्वयं बौद्ध–दर्शन के अन्दर पाये जाते हैं और एक तरह से यह कहा जाता है कि भारत में दर्शन की दो बार आवृत्ति हुई– एक बार विविध हिन्दू दर्शन में और दूसरी बार बौद्ध दर्शन के विविध सम्प्रदायों में।

बौद्ध–सम्प्रदायों को जो प्रमुखता मिल गई थी उसका धीरे–धीरे भारतवर्ष में जोर पकड़ती हुई हिन्दू विचारधारा के दबाब से ह्रास हो गया। जितना संस्कृत–साहित्य काल के प्रवाह में नष्ट होने से बच गया है उससे ज्ञात होता है कि सबसे पहला बड़ा आक्रमण बौद्ध–धर्म के सैद्धान्तिक पक्ष पर कुमारिल भट्ट (700 ई0) की ओर से हुआ। फिर शंकराचार्य तथा अन्य आचार्यों के द्वारा ऐसे आक्रमण होते ही गए। इसके फलस्वरूप बौद्ध–धर्म का प्रभाव भारतववर्ष के एक बड़े भूभाग पर बहुत कम हो गया। प्रारंभ में दार्शनिक बारीकियों पर वाद विवाद कुछ अधिक समय तक चलते रहे परन्तु बारहवीं शताब्दी के बाद विभिन्न हिन्दू दर्शनों में बौद्ध–दर्शन की चर्चाएँ अधिकांशतः शास्त्रीय और बुद्धि–विलास मात्र बन कर रह गई। उस काल के बाद इस महान धर्म का प्रचार–प्रसार अब भारत के बाहर तिब्बत, चीन और जापान आदि देशों में अधिक हुआ।

बौद्ध–धर्म की इस उत्तरकालीन अवस्था में से सम्बन्धित साहित्य, जिसका निर्माण पहली या दूसरी शताब्दी ईसवी में शुरू हो गया था, अति विशाल है, परन्तु यहाँ

उसके केवल एक छोटे से भाग की ही चर्चा की जा रही है। यहाँ यह भी उस्ल्लेखनीय है कि बौद्ध धर्म से सम्बन्धित अनेक संस्कृत–ग्रंथ लुप्त हो चुकें हैं।

बौद्ध दर्शन के चार ग्रन्थ प्रमुख रहे हैं। उनमें से वैभाषिक के मुख्य प्रवक्ता दिंङनाग और धर्मकीर्ति हुए। दिंङनाग का काल प्रायः 500 ई0 के आस पास माना जाता है। उसके प्रमाण समुच्चयादि ग्रन्थ अब संस्कृत में नहीं मिलते धर्मकीर्ति को दिङ़ नाग का टीकाकार और शंकराचार्य को पूर्ववर्ती माना जाता है। उसका तर्क शास्त्र पर लिखा हुआ ग्रन्थ 'न्याय बिन्दु' धर्मोत्तर की अत्यन्त महत्वपूर्ण टीका के साथ मिलता है। हिन्दु दर्शनकारों के गृनी ने इन दोनों विचारकों के गृनी के अनेक उद्धरण मिलते हैं। प्रसिद्ध है कि कुमारिलब्ध (200 ई0) सैद्धान्तिक सम्प्रदायों के बीच की विभाजक रेखा को खोज पाना आसान नहीं है।

योगाचार सम्प्रदायों के मुख्य आचार्य असंग और वसुबन्धु थे। ये दोनों परस्पर भाई थे और शायद तीसरी शताब्दी ईसवी में हुए थे। लगता है कि वसुबन्धु पहले सैद्धान्तिक था और बाद में अपने भाई के प्रभाव से योगाचार हो गया था।

बौद्ध सम्प्रदाय की महायान शाखा के अनुयायी ही वज्रयानी सिद्ध हुए है। अधिकांश सम्प्रदाय 84 सिद्ध पुरुषों के अस्तित्व में विश्वास करते थे, जिन्हें अष्ट महासिद्धयाँ उपलब्ध थीं और जो अति–प्राकृतिक चमत्कारों का प्रदर्शन कर सकते थे, ये 84 महासिद्ध अजर और अमर माने जाते थे, देवों, यक्षिणियों तथा डाकनियों आदि के स्वामी माने जाते थे और अतिमानव अर्द्ध–देवताओं में उनकी गणना होती थी। मध्यकाल में समस्त जनता इन 84 महासिद्धों की कल्पना से प्रभावित थी और जायसी तक उनका उल्लेख अमर–पुरुषों के रूप में करते हुए कहते हैं :

नवौ नाथ चलि आवहिं औ चौरासी सिद्ध
आज महारन–भारथ चले गगन, गरुड़ और गिद्ध....

ये सिद्ध केवल कल्पना मात्र ही नहीं थे बल्कि इनका ऐतिहासिक अस्तित्व

भी था जहाँ तक 84 संख्या का प्रश्न है, यह संख्या वास्तविक न होकर काल्पनिक संख्या मालूम भी होती है। तन्त्रों में 84 संख्या का एक विशेष महत्व है और उसके गूढ़ तान्त्रिक अभिप्राय हैं। तन्त्रों में, योग में, आसन भी 84 माने गये हैं और वहाँ भी इस संख्या का सांकेतिक महत्व है। टुची इस संख्या को बारह राशि तथा सात ग्रहों का गुणनफल मानते हैं। यह 84 संख्या लगभग प्रत्येक तान्त्रिक सम्प्रदाय में स्वीकृत थी और यह विश्वास किया जाता था कि सम्प्रदाय में 84 सिद्धों का होना अनिवार्य है। उस काल में प्रत्येक प्रान्त में, प्रत्येक सम्प्रदाय में जाने कितने योगी होते थे जिनमें से कुछ विलक्षण सिद्धियों को उपलब्ध कर लेने वालों को सिद्ध कहा जाने लगता था। किन्तु सम्प्रदायिक प्रतिद्वद्विंता के कारण प्रत्येक सम्प्रदाय कुछ सिद्धों को मान्यता देता था और कुछ का विरोध करता था। इस स्थिति में प्रत्येक सम्प्रदाय की, सिद्धों की सूची अलग–अलग थी। बौद्धों की सूची नाथ योगियों की सूची से अलग थी, और स्वतः बौद्ध तथा नाथों में भी अलग–अलग सूचियों के अस्तित्व के प्रमाण मिलते हैं। न केवल नेपाल, तिब्बत; कारूप तथा उड़ीसा आदि में ही इन 84 सिद्धों की परम्परा चल रही थी वरन दक्षिण भारत में भी 84 सिद्धों की परम्परा का पर्याप्त प्रचलन था।

किन्तु इन सम्प्रदायों की सूची सर्वथा विश्वसनीय नहीं है, क्योंकि प्रत्येक सम्प्रदाय में 84 सिद्धों की संख्या पूरी करने के लिए चारो तरफ जाल फेंकता था और विभिन्न शताब्दियों तथा प्रान्तों के सिद्ध पुरूषों के नाम अपनी सूची में सम्मिलित कर 84 का शगुन पूरा करता था। इसीलिए प्रत्येक सम्प्रदाय की सूची में दूसरे सम्प्रदाय के भी कितने ही सिद्ध सम्मिलित रहते थे और उनका औचित्य सिद्ध करने के लिए कुछ सम्प्रदायिक दन्तकथाएँ गढ़ ली जाती थीं जिनमें यह सिद्ध किया जाता था कि वास्तव में ये सिद्ध इसी सम्प्रदाय के है और अन्य सम्प्रदायों को उन्होंने त्याग दिया था या उसे गौण–साधना–पद्धति के रूप में अपना रक्खा था या इन सिद्धों के दो अलौकिक रूप थे जिनमें से एक रूप बौद्ध रूप था और दूसरा शैव। इस प्रकार की कितनी ही अविश्वसनीय,

अनैतिहासिक, दन्तकथाएँ तिब्बती तथा भारतीय सम्प्रदाय ग्रन्थों में प्राप्त होती हैं। जिनकी ओर हमने जीवन–वृत्त पर विचार करते समय संकेत किया है। बौद्ध तथा शैव दोनों ही पद्धतियाँ इतनी निकट आ गई थीं कि बहुत ही स्वच्छन्दता से दोनों में देवताओं, अनुष्ठानों, अभिचारों तथा किम्बदन्तियों का आदान–प्रदान का स्वरूप इतना उलझा हुआ है कि आज यह कह सकना कठिन है कि किस सम्प्रदाय ने किससे प्रभाव ग्रहण किया। इसलिये इन सूचियों को ज्यों का त्यों स्वीकृत नहीं किया जा सकता। किन्तु अभी तक जो सूचियाँ प्राप्त हुई हैं, प्रामणिक सामग्री के अभाव में उनका परीक्षण तथा विशलेषण भी अत्यन्त दुस्साध्य है। इन 84 सिद्धों के नाम तथा क्रम पर प्रकाश डालने वाली चतुर्विध सामग्री प्राप्त हुई है।

क– महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री द्वारा निर्दिष्ट वर्ण–रत्नाकर की सूची।

"वर्णरत्नाकर" एक तापत्र का हस्तलिखित ग्रन्थ है जो बंगलाक्षरों में लिखा हुआ है। उसका लिपिकाल लक्ष्मण सम्वत् 388 दिया हुआ है। एशियाटिक सोसायटी के संग्रहालय में यह ग्रन्थ सुरक्षित है। इसके लेखक कविशेखराचार्य ज्योतिषीश्वर हैं जो मिथिला के महाराज हरिसिंह देव 1300–1321 के दरबार में थे। इस ग्रन्थ के विभिन्न कल्लोलों में नग–वर्णना, नायिका–वर्णना, आदि का विस्तृत वर्णन है। उसी में 84 सिद्ध–वर्णना भी दी गई है, यृपि नाम केवल 76 सिद्धों का ही दिया गया है। 1. मीननाथ, 2. गोरझनाथ, 3. चौरंगीनाथ, 4. चामरीनाथ, 5. तंतिपा, 6. हालिया, 7. केदारिया, 8. घोगपा, 9. दारिपा, 10. विरुपा, 11. कपाली, 12. कमारी, 13. कान्ह, 14. कनखल, 15. मेखल, 16. उन्मन, 17. काण्डलि, 18. धोबी, 19. जालन्धर, 20. टोंगी, 21. भवह, 22. नागार्जुन, 23. दौली, 24. भिषाल, 25. अचिति, 26. चम्पक, 27. टेण्टस, 28. भुम्बरी, 29. बाकलि, 30. तुजी, 31. चर्पटी, 32. भादे, 33. चांदन 34. कामरी, 35. करवत, 36. ध र्मपापतंग, 37. भद्र, 38. पातलिभद्र, 39. पालिहिह, 40. भानु, 41. मीन, 42. निर्दय, 43. सबर, 44. सान्ति, 45. भार्तृहरि, 46. भषण, 47. भरी, 48. गगनपा, 49. गमार, 50. मेनुरा,

51. कुमारी, 52. जीवन, 53. अधोषाधव, 54. विविकिधज, 55. सियारी, 56. नागवालि, 57. विभवत, 58. सारंग, 59. विविकिधज, 60. मगरधज, 61. अचित, 62. विचित, 63. नेचक, 64. चाटल, 65. नाचन, 66. भीलो, 67. पाहिल, 68. पासल, 69. कमल कंगारि, 70. चिपिल, 71. गोविन्न, 72. भम, 73. भैरव, 74. भद्र, 75. भर्मरी, 76. भुरुकुटी।

यह सूची नाथ—सम्प्रदाय द्वारा मान्य सूची थी ऐसा उल्लेख शास्त्री महोदय ने किया है य़पि इसका आधार सम्भवतः यही है कि इस सूची में मीननाथ को आदि—सिद्ध माना गया है और मीननाथ की मत्स्येन्द्रनाथ से अभिन्नता दिखाकर इस सूची को नाथ परम्परा की सूचनी कहा गया है।

ख— त्रिपिटकाचार्य राहुल सांकृत्यायन द्वारा निर्दिष्ट वज्रयानी सिद्धों की सूची।

इस सूची का मुख्य आधार तिब्बत के स स्वयं विहार के पाँच प्रधान गुरुओं 1091—1279 की ग्रन्थवली है जो तुर्गी मठ में छपी है। इसमें 84 सिद्धों को संख्या पूरी है और उनकी जाति तथा देश का भी उल्लेख किया गया है।

1. लूइपा, कायस्थ, मगध, 3. विरुपा मगध (देवपाल का देश), 4. डोम्बिपा, चरित्र, मगध, 5. शबरपा, चरित्र, विक्रमशिला, 6. सरहपा, ब्राह्मण, नालन्दा, 7. कंकालीपा, शूद्र, मगध, 8. मीनपा, मछुआ, कामरूप, 9 गोरप्पा, 10. चौरंगिपा, राजकुमार, मगध, 11. वीणपा, राज कुमार, गौड़ (बिहार), 12. शान्तिपा, ब्राह्मण, मगध, 13. तन्तिपा (तंतवा), सोंध ी नगर, 14, चमारिपा, (चर्मकार) विष्णु नगर (पूर्वदेश), 15. कर्णरिपा या आर्यदेव, नालन्दा, 19 थगनपा, शूद्र पूर्व भारत, 20. नारोपा, ब्राह्मण मगध, 21. शलिपा या शीलपा, शूद्र, विघसुर, 22. तिलोपा या तिल्लोपा, ब्राह्मण, भिगुनगर, 23. छत्रपा, शूद्र संधोननगर, 24. भद्रपा, ब्राह्मण, मणिधर, 25. दोखंधि या द्विखंडिपा, गंधपुर, 26. अजोगिपा, गृहपति, सालिपुत्र, 27. कालपा, राजपुर, 28. धोम्भिपा, धोबी, सालिपुत्र, 29. कंकणपा, राजकुमार, विष्णुनगर, 30. कमर कंबल पा, उड़ीसा, 31. डेंगिपा ब्राह्मण, उड़ीसा, सालिगपुत्र, 32. भदेपा, श्रावस्ती, 33. तंधे या तंतेपा, शूद्र, कौशाम्बी, 34. कुकुरिपा, ब्राह्मण, कपिलवस्तु ,

35. कुचि या कुसूलिपा, शूद्र, करि, 36. धर्मपा ब्राह्मण, विक्रशिला, 37. महीपा या महिलपा शूद्र, करि, 36. धर्मपा ब्राह्मण, विक्रमशिला, 27. महीपा महिलपा शूद्र, मगध, 38. अचिंतिपा, लकड़हारा, धनिरुप, 39. भलह (भवपा) क्षत्रिय, धंजुर देश, 40. नलिनपा, सालिपुर, 41. भुसुकपा, राजकुमार, नालन्दा, 42. इन्द्रभूति, राजा, लंकापुर, 43. भेकोपा वणिक्, मंगलदेश, 44. कुठालि (कुद्दालि पा) रामैश्वर, 45. कर्मार या कम्परि पा लोहार, सालिपुत्र, 46. जालन्धरपा, ब्राह्मण, नगर भो..............., 47. राहुलपा, शूद्र कामरूप, 48. घर्वरि या घर्वरि पा, बोधि नगर, 49. धोकरिपा, सालिपुत्र 48.मेदनीपा, लाखपुय, 51. पंकजपा ब्राह्मण, 52. वज्र पा घंटापा, क्षत्रिय, वारेन्द्र, 53. जोगीपा या अजोगिपा, डोम, उडन्तपुरो, 54. चेलुकपा, शूद्र, मंगलदेश, 57. गुंडरिपा या गोरुर पा, चिड़ीमार, डेसुनगर, 56. लुचिकपा, ब्राह्मण, भंगलदेश, 57. निर्गुणपा, शूद्र, पूर्व देश, 58. जायनप्त, ब्राह्मण, भंगलपुर, 59. चर्पटी या पचरीपा, कहार चम्पा, 60. चम्कपा, राजकुमार, 61. भिखनपा, शूद्र सालिपुत्र, 62. भलिपा, कृष्णघृतवधिक्, सतपुरी, 63. कुमरिपा जोमनश्री देश, 65. चवरि (या जवरि–अजपालि) पा, 65. मणिभद्रा या योगनी, गृहदासी, मगध, 66. मेखलापा या योगिनी गृहपतिकन्या, अगचेनगर, 67. कनखलापा या योगिनी देवीकोट, 69. कलकलपा शूद्र, भिरलिनगर, 69. कंताली कंथालीं पा दर्जी, मणिधर (मैहर), 70. धहुलि या धहुरि पा शूद्र, धेकरदेश, 71. उ,धलि या उधरिपा वैश्य, देवीकोट, 72. कपाल या कमजपा शूद्र, राजपुरी, 73. किलपा राजकुमार, प्रहर (सहर), 74. सागरपा राना, कांची, 75. सर्वभक्षपा, शूद्र महर (सहर), 76.नागबोधिपा ब्राह्मण, पश्चिम भारत, 77. द्वारिकपा राजा, उड़ीसा सालिपुत्र, 78. पुतुलिपा शूद्र, भंगलदेश, 79. पनह या उपानह पा चमार, सन्धोनगर, 80. कोकालिपा राजकुमार, चंपारन, 81. अनंगपा, शूद्र गौड़, 82. लक्ष्मीकरा या योगिनी राजकुमारी, संभलनगर, 83. समुदपा, सर्वडिदेश, 84. भलि या व्यालिपा, ब्राह्मण अपत्रदेश।

ग. तुंजूर पर आधारित ग्रुएनवाल्ड की सूची जिसमें केवल 38. सिद्धों के नाम हैं किन्तु उन सबों के साथ उनकी क्रम संख्या स्पष्ट उल्लेख है और वह क्रम संख्या व

स्क्य बिहार की सूची से पूरी तरह मेल खाती है। इससे यह भी ज्ञात होता है कि स स्क्व बिहार की सूची वज्रयानी सिद्धों की सर्वमान्य सूची थी। निम्नलिखित क्रम–संख्याओं वाले सिद्धों का उल्लेख इस सूची में है :

1, 3, 4, 5, 6, 8, 9, 10, 11, 12, 13, 16, 17, 18, 19, 20, 22, 24, 30, 31, 32, 34, 36, 42, 44, 46, 52, 54, 64, 66, 67, 77, 82, 84, 57, 74, नामों में कहीं कहीं थोड़ा उच्चारण भेद अवश्य है (10 वें सिद्ध को इस सूची में षडरांगपा कहा गया है। चो सस्क्य सूची में चौरंगीपां है। यह भी उच्चारण भेद ही प्रतीत होता है।)

घ. आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी द्वारा संग्रहीत महार्णव–तन्त्र, हठयोग–प्रदीपिका, गोरक्ष–सिद्धान्त–संग्रह, योगिसम्प्रदाय विष्कृतिः सुधाकर–चन्द्रिका, ज्ञानेश्वर–चरित्र तथा प्राण–संगाली नामक ग्रन्थों से संचयिर सिद्धों की सूची जिनकी संख्या वर्णरत्नाकर के नामों को मिलाकर 137+11 148 होती है। इनमें से बहुत से पुराने सिद्ध है जिनमें से कुछ वज्रयानी भी हो सकते है।

सम्प्रदाय की दृष्टि से इनमें से कोई भी सूची अधिकारिक नहीं मानी जा सकती है। वर्णरत्नाकर तथा द्विवेदी जी द्वारा संग्रहीत सूची नाथ–सम्प्रदाय की सूची है। किन्तु उसमें वज्रयानी सिद्ध भी सम्मिलित हो गये है, सस्क्य बुम् की सूची वज्रयानी है किन्तु उसका संकलन 13 वीं शदी में हुआ है अतः उसमें बहुत से नाथ–सिद्ध भी मिला कर 84 संख्या पूरी की गई है। फिर भी जहाँ तक प्रमाणिकता का प्रश्न है कि सस्क्य सूची ही तुलना में अधिक प्रमाणित मानी जा सकती है। इसके कई कारण है –

1. वर्ण–रत्नाकर का सम्भावित रचना–काल (1300–1221 ई0) इस सूची के रचना–काल से लगभग 25 वर्ष के बाद का है। जिन ग्रन्थों से द्विवेदी जी ने नाम संकलित किये हैं वे और भी परवर्ती हैं और तब तक नाथ–परम्परा ने बौद्ध परम्परा को पूर्णतया उन्मूलित कर दिया था।

2. तुंजूर की क्रम–संख्याओं से सस्क्य सूची की क्रमसंख्या पूर्णतया मिल

जाना इस बात का द्योतक है कि यह सूची अधिकांश बौद्ध तान्त्रिक सम्प्रदायों द्वारा मान्य सूची थी।

3. यही एक सूची 84 की संख्या को पूर्ण करती है। अन्य सुचियाँ अपूर्ण हैं।

द्विवेदी जी ने वर्ण–रत्नाकर तथा सस्क्य सूची की तुलना करने के उपरान्त निम्नलिखित नामों को दोनों सूचियों में सम्मिलित पाया है।

शवरीपा (सरक्य सूची 5, वर्णरत्नाकर सूची 44), मीनपा (8, 1), गोरक्षपा (9, 2), चौरंगीपा (10, 3), शान्तिपा (12, 44), तन्तिपा (13, 5), थगनपा (19, 48), शीलपा, शियालीपा या श्रृगालीपा (21, 55), भद्रपा (24, 37), धोम्मिपा (28, 18), कमरिपा (30, 34), ढेंगिपा (31, 4), भदेपा (32, 32), धर्मपा (36, 36), अचिन्तिपा (38, 25), कुड़ालिपा (44– 7), कमारिपा (45, 12), जालन्धरपा (46, 19), मेंदिनीपा या हालीपा (50, 6), चर्पटीपा (59, 31), चम्कपा (26, 60), भीखनपा (61, 46), कनखलापा (67, 14), मेखलापा (66, 15), कनखलापा (67, 14), कपालपा (72, 69), नागाबोधिपा (73, 56), दारिकपा (77, 9) ।

10वीं शती के उत्तरार्द्ध से ही कई सिद्ध ऐसे थे जो शैव तथा बौद्ध दोनों ही पद्धतियों के आचार्य थे और यद्यपि वे किसी एक बौद्ध या शैव – सम्प्रदाय को ही प्रमुख मान्यता देते थे किन्तु दूसरे सम्प्रदायों को भी प्रश्रय देते थे और दूसरे सम्प्रदाय वाले भी उन्हें मान्यता प्रदान करते थे। ऐसे तीन सिद्ध प्रमुख हैं, मत्स्येन्द्र, जालन्धर तथा काणह। मत्स्येन्द्र मूलतया शैव सम्प्रदाय के अनुयायी थे यद्यपि नैपाल में उन्हें पाशुपत शिव तथा तिब्बत में अवलोकितेश्वर का अवतार माना जाता था। जालन्धर के लिये तारानाथ ने भी भी कहा है कि पूर्व में हाड़ीपा का बौद्ध रूप धारण कर प्रचार करते थे, और पिश्चम में जालन्धरपा सम्भवतः शैव रूप ही धारण करते थे। काराहपा के लिये भी तारानाथ का कथन है कि अन्तर से बौद्ध होते हुए भी बाहर से अबौद्ध पद्धतियों को ग्रहण करते थे और अबौद्ध सम्प्रदायों में भी उनका बड़ा आदर था। ऐसे समन्यववादी सिद्ध

दोनों ही सम्प्रदायों की सूचियों में सम्मिलित कर लिये गये होंगे।

उस समय की साम्प्रादयिक स्थिति इस प्रकार की थी कि कुछ प्रदेशों में वैष्णवी के विरोध में शैव तथा बौद्ध सम्प्रदायों का संयुक्त शिविर स्थापित हो चुका था और दोनों सम्प्रदाय एक दूसरे के देवताओं, पद्धतियों तथा आचार्यो की परम्परा को आत्मसात् कर रहे थे।

नाथ सम्प्रदाय स्वतः बौद्ध प्रभावों के प्रति शैव विद्रोह है किन्तु इस विद्रोह के पूर्व इनमें से कुछ सिद्ध वर्जयानी रहे होंगे। कुछ तिब्बती अनुश्रुतियाँ तो स्वतः गोरखनाथ को पहले वज्रयानी बाताती हैं। वे शैव बाद में हुए थे।

कभी कभी ऐसा होता था कि कोई विशेष पद्धति आचार्य द्वारा प्रवर्तित की गई। वह आचार्य स्वतः बौद्ध था। बाद में किसी दूसरे आचार्य ने वही पद्धति अपनाई किन्तु सम्प्रदाय शैव अपनाया। ऐसी परिस्थिति में उसे उसी बौद्ध सिद्ध का अवतार मानते हुए नाथ – परम्परा में सम्मिलित कर लिया गया। उसे नाम उसके गुरु बौद्ध सिद्ध का ही दिया गया और इस प्रकार भी कुछ वज्रयानी नाम नाथ सूची में आ गये। उदाहरण के लिये विरूपा मूलतः नालन्दा का बौद्ध सिद्ध था, किन्तु उसके कई अवतार बताये गये हैं और परवर्ती विरूपा या विरूपाज्ञ को कई नाथ–पन्थी ग्रन्थों में मानरूता प्रदान की गई। सम्भवतः प्रथम विरुपा की पद्धति अपना कर भी परवर्ती विरुपा ने शैव सम्पप्रदाय ग्रहण कर लिया था।

कुछ सिद्ध ऐसे व्यक्तित्व के थे जिनका जनता पर बहुत प्रभाव था, दूसरे सम्प्रदायों ने जनता पर प्रभाव डालने के लिए, या अदरवश उन्हें अपनी परम्परा में स्वीकृत कर लिया होगा। गोरख, शरबपा आदि ऐसे ही सिद्ध माने जा सकेते हैं।

कुछ सिद्ध सम्भवतः ऐसे विशेष जाति के थे जो वज्रयान के बाद नाथ संप्रदाय में सामूहिक रूप से दिक्षित हो गये। उस जाति के वज्रयानी सिद्ध की गणना भी उस जाति के साथ–साथ नाथ सम्प्रदाय में होने होगी। उदाहरण के लिये वयनजीवी

जातियों में से कुछ पहले बौद्ध थीं और बाद में सामूहिक रूप से नाथ योगी हो गई थी। वज्रयानी सिद्ध तन्तिपा वयनजीवी जाति के थे। उनकी कुछ तन्तुवायों में बहुत मान्यता रही होंगी। जब वे तन्तुवाय शैव हो गये होंगे तब अपनी जाति के सिद्धों को उन्होंने परित्यक्त नहीं किया होगा। फलतः तन्तिपा की गणना दोनों सम्प्रदायों की सूची में होती है। इसी प्रकार चमरिपा तथा धेम्मिपा (धोबीपा) के विषय में भी अनुमान किया जा सकता है। इसका कारण यह है कि बौद्धों में भी गई आम्नाय थे और इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता कि सभी आमनायों में सिद्धों की एक ही सूची मान्य थी। वहुत सम्भव है चर्याचय–विनिश्चय तथा सस्क्य सूचनी में आम्नाय–भेद हो अतः चर्यापद–विनिश्चय में कई ऐसे सिद्धां के पद संग्रहीत हों जिन्हें सस्क्य सूची में स्थान न दिया गया हो। सिद्धों के जीवन वृत्त पर विचार करते हुए उन पदकर्ताओं पर भी विचार कर लिया गया है जो सस्क्य सूची में सम्मिलित किये गये हैं। साम्प्रदायिक स्थिति के अन्तर्गत उन प्रमुख पदकार्ताओं और दोहाकारों की स्थिति पर भी विचार कर लिया गया है। जिनका नाम दोनों सम्प्रदायों में मान्य है।

<u>काल–क्रम</u>

जहाँ तक समय का सम्बन्ध है, यह सिद्ध परम्परा अधिक से अधिक दो या तीन शतियों की परिधि में ही आ जाती है क्योंकि इनमें से बहुत से सिद्ध समकालीन थे। इनके समय का निर्णय करने के लिए अन्तर्साक्ष्य का सर्वथा अभाव है। उन पर विश्वास कर डा० शहिदुल्ला ने मत्स्येन्द्र का समय सातवी शती मान लिया जो कि किसी भी कसौटी से ठीक नहीं बैठता। इस पर आगे विचार करेंगे। अन्य साक्ष्यों के रूप मे दो पांडुलिपियों का उल्लेख किया जा सकता है।

क० काणहपा द्वासरा लिखित हेवज्र–पंजिका–योगरत्नमाला जिसका लिपिकाल काणहपा के समय की निम्नतम सीमा निर्धारित करता है।

ख० कैम्ब्रिज युनिवर्सिटी लाइब्रेरी में संग्रहीत साधनाओं की एक पांडुलिपि

जिसका समय 1135 ई0 है और जिसमें कंकणपाद अथवा कोंकणपाद की भी साधना संग्रहीत है।[1]

2. नाथ सम्प्रदाय का विकास –

इन परवर्ती सिद्धों के प्रभाव के कारण ही नाथ सम्प्रदाय का विकास हुअ था। नाथ सम्प्रदाय के अनेक नाथ अलग न होकर सिद्धों में से ही थे। नाथ सम्प्रदाय के विकास में गुरु गोरखनाथ का उच्चतम योगदान है।

गोरखनाथ तथा उनके सम्प्रदाय के विषय में विभिन्न विद्वानों ने जो मत प्रस्तुत किए हैं वे भी प्रमाणिक सामग्री के अभाव में अधिकतर अनुमानात्मक हैं। जहाँ तक बौद्ध सिद्ध–परम्परा और गोरखनाथ का सम्बन्ध है, कुछ मतों तथा किंवदन्तियों का उल्लेख कर देना आवश्यक है, यद्यपि उन्हें किसी प्रमाण के अभाव में विश्वसनीय नहीं कहा जा सकता। बौद्ध किंवदन्तियों में गोरखनाथ वज्रयानी साधक माने गये हैं और म0 हरप्रसाद शास्त्री ने रमणवज्र नाम का उल्लेख किया है। उनका यह भी कहना है कि नेपाल के बौद्ध लोग गोरखनाथ पर बहुत क्रुद्ध हैं और उन्हें पहले बौद्ध धर्म का अनुयायी और बाद में उसका शत्रु मानते हैं। सिल्वियाँ लेवी ने नेपाल के बौद्धों में प्रचलित एक दन्तकथा का उल्लेख किया है। जिसके अनुसार गोरख के समस्त अनुयायी पहले बौद्ध थे बाद में यवनों के भय से बौद्ध धर्म ईश्वरी (शैव) हो गये। एक विद्वान ने तो असंग अथवा नागार्जुन और गोरखनाथ को एक ही मानने का सुझाव रखा है।

ये अधिकांश किवदन्तियाँ अप्रमाणिक हैं और इनके आधार पर किसी भी निष्कर्ष पर पहुँचना अवैज्ञानिक होगा किन्तु ये किवदन्तियाँ इस बात की ओर अवश्य संकेत करती है कि बौद्ध साधनाएँ नाथ–परम्परा से बहुत घनिष्ट रूप से सम्बद्ध थीं। स्वतः बौद्ध तांत्रिक सम्प्रदाय के संस्कृत तथा अपभ्रंश साहित्य में शैव प्रवृत्तियाँ प्रविष्ट हों चुकी थीं। दोहा तथा चर्यापदों में कई स्थलों पर सिद्धों के लिये, या गुरु के लिये या वज्रसत्व के

---

1. डॉ0 धर्मवीर भारती, सिद्ध साहित्य, पृ0 28–37

लिए नाथ विशेषण का प्रयोग हुआ है। सरहपा ने उसे नाथस्वरूप कहा है कि जिसका चित्त विस्फुरित हो जाय 'जत वि चित्तहि विफ्फुरई तत्त वि णाह सरूअ'। काणहपा भी उसे नाथ कहते हैं, जो मन को निश्चल कर लें 'जो णत्थु णिच्चल किअउ मण सो धम्मक्खर पास ।' ऐसे ही साधक को काणहपा वज्रधरनाथ भी कहते हैं। और वह गृहिणी(प्रज्ञा महामुद्रा) का स्वामी होता है। प्रज्ञोपाय–विनिश्चय–सिद्धि, साधनमाला तथा कुछ अन्य अमुद्रित कृतियों आदि में नाथों का जो उल्लेख मिला है। उसके आधार पर डा0 बड़थ्वाल का यह अनुमान है कि बौद्ध–परम्परा में वज्रनाथी सम्प्रदायों का उद्भव हो चुका था और वज्रनाथी साधक केवल नाममात्र के लिये ही बोद्ध थे और उनमें नाथ शब्द गुरु के लिये (लामा का संस्कृत पर्याय) प्रयुक्त होता था क्योंकि गुरु वज्रकायाधारी अजर और अमर माना जाता था । डा0 बड़थ्वाल का मत है कि अधिकांश बौद्ध सिद्ध विचारधारा के अनुसार बौद्ध थे।

इस प्रकार देखते हैं कि विद्वानों के मत दो सीमाओं पर हैं। कुछ लोग गोरखनाथ और उनके सम्प्रदाय को वज्रयान की शैव शाखा मानते हैं और कुछ लोग स्वतः बौद्ध सिद्धों को प्रच्छन्न नाथपंथी। इन दोनों ही मतों में अनुमान की प्रबलता अधिक है, बैज्ञानिक तर्कों का आश्रय कम और इसलिए दोनों में से किसी भी मत को पूर्णतया ग्रहण नहीं किया जा सकता। अधिक से अधित हम यह जान सकते हैं कि एक ही भूभाग में बहुत दिनों तक शैव तथा बौद्ध तन्त्र और योग साधनाएँ समानान्तर रूप से चलती रहीं और कामरूप आदि कई केन्द्र ऐसी भी थे जहाँ दोनों के ही तन्त्रपीठ होने के कारण दोनों पद्धतियों में पर्याप्त आदान–प्रदान हो रहा था जिसकी ओर हम पीछे कई बार संकेत कर चुके हैं।

इस सम्बन्ध में यह भी ध्यान रखना आवश्यक है कि गोरखनाथ नाथ सम्प्रदाय के प्रवर्तक नहीं थे। वे उसके अत्यन्त सबल प्रचारक आचार्य तथा संगठनकर्ता थे। यह नाथ परम्परा और कनफटी साधनाओं की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। और किसी न किसी रूप में पाशुपत लाकुलीश मत से इनका घनिष्ट सम्बन्ध रहा है। पंडित हजारी

प्रसाद द्विवेदी का कहना है कि गोरखनाथ ने योगमार्ग को एक व्यवस्थित रूप दिया। उन्होंने शैव प्रत्यभिज्ञा दर्शन के सिद्धान्तों के आधार पर बहुविस्तृत कायायोग साधनों को व्यवस्थित किया, आत्मानुभूति और शैव परम्परा के सामंजस्य से चक्रों की संख्या नियत की। उन दिनों अत्यंत प्रचलित वज्रयानी साधना के पारिभाषिक शब्दों के साम्वृत्तिक अर्थ को बलपूर्वक परमार्थिक रूप दिया और अब्राह्मण उद्गम से उद्भूत सम्पूर्ण ब्राह्मण विरोधी साधनामार्ग को इस प्रकार संस्कृत किया कि उसका रूढ़ि विरोधी रूप ज्यों का त्यों बना रहा किन्तु उसकी अशिक्षजन्य प्रमादपूर्ण रूढ़ियाँ परिष्कृत हो गई।

गोरखनाथ को शैव योग परम्परा किस रूप में मिली थी और उसमें उन्होंने क्या सुधार किया था इसका कोई भी प्रमाणिक विवरण नहीं दिया जा सकता किन्तु उन्होंने बौद्ध तान्त्रिक प्रभावों का कड़ा विरोध किया था ऐसा आभास अवश्य मिलता है । डा0 द्विवेदी भी उन पर ब्राह्मण प्रभाव विशेष मानते हैं। गोरखनाथ तथा उनके गुरु मत्स्येन्द्रनाथ के विषय में जो भी किदन्तियाँ प्रचलित हैं उनसे यह आभास अवश्य मिलता है कि तान्त्रिक बामाचारी साधनाओं को लेकर गुरु शिष्य में कुछ मतभेद अवश्य था। मत्स्येन्द्र के नाम से शैव–कौल–तन्त्र की जिन पुस्तकों का सम्पादन डा0 बागची ने किया है वे काफी प्राचीन हैं (11वीं शती) और उन्हें मत्स्येन्द की पद्धति के अन्तर्गत न मानने का कोई कारण नहीं दीख पड़ता है। कौलज्ञान निर्णय, अकुलवीर, कुलानन्द तन्त्र तथा ज्ञानकारिका आदि कृतियों में सहज–शून्य, वज्र आदि बहुत वज्रयानी शब्दों का प्रयोग मिलता है। जिसका आगे यथास्थान उल्लेख किया जायेगा। इन कृतियों का प्रमुख स्वर शैव है और अकुलवीर तन्त्र में तो स्पष्टतः बौद्ध सम्प्रदाय का विरोध मिलता है। किन्तु उसकी साधनापद्धति तान्त्रिक है। और ज्ञात यह होता है कि इन्हीं तांत्रिक अंशों का वहिष्कार कर गोरखनाथ ने अपने सम्प्रदाय का गठन किया होगा। इस आधार पर डा0 द्विवेदी भी उन पर ब्राह्मण प्रभाव विशेष मानते हैं। गोरखनाथ तथा उनके गुरु शिष्य में कुछ मतभेद अवश्य था। मत्स्येन्द्र के नाम से शैव–कोल–तन्त्र की जिन

पुस्तकों का सम्पादन डा0 बागची ने किया है वे काफी प्राचीन हैं (11वीं शती) और उन्हें मत्स्येन्द्र की पद्धति के अन्तर्गत न मानने का कोई कारण नहीं दीख पड़ता है। कौलज्ञान निर्णय, अकुलवीर, कुलानन्द तन् तथा ज्ञानकारिका आदि कृतियों में सहज-शून्य, वज्र आदि बहुत वज्रयानी शब्दों का प्रयोग मिलता है जिनका आगे यथास्थान उल्लेख किया जायेगा। शब्दों का प्रयोग मिलता है जिनका आगे यथास्थान उल्लेख किया जायेगा। इन कृतियों का प्रमुख स्वर शैव है और अकुलवीर तन्त्र में तो स्पष्टतः बौद्ध सम्प्रदाय का विरोध मिलता है। किन्तु उसकी साधनापद्धति तान्त्रिक है और ज्ञात यह होता है कि इन्हीं तांत्रिक अंशों का बहिष्कार कर गोरखनाथ ने अपने सम्प्रदाय का गठन किया होगा। इस आधार पर डा0 द्विवेदी का यह मत समीचीन प्रतीत होता है कि गोरखनाथ की साधना का मूलस्वर शील, संयम और शुद्धतावादी है और उन्होंने तान्त्रिक उच्छृंखलताओं का विरोध कर 'निर्मम हथौड़े से साधु और गृहस्थ दोनों की कुरीतियों को पूर्ण कर दिया।' विरोध केवल बौद्ध तन्त्रों से ही नहीं शाक्तों और शैवों से भी था। 'योगि-सम्प्रदायाविष्कृति' की वाममार्ग तथा गोरखनाथ की कथा भी इस परम्परा की ओर अप्रत्यक्ष संकेत करती है।

गोरखनाथ ने अपने सम्प्रदाय का संगठन करते समय बहुत से पूर्ववर्ती सम्प्रदायों को अपने योग मार्ग में स्वीकृत कर लिया था। डा0 द्विवेदी का अनुमान यह है कि उनके पहले दो प्रकार के दल विद्यमान रहे होंगे। क- ऐसे जो योगमार्गी थे किन्तु शैव या शाक्त नहीं थे, ख- वे जो शैवागमवादी थे किन्तु योगमार्गी नहीं थे। दोनों ही प्रकार के कई सम्प्रदाय जो पूर्णवर्ती थे गोरखनाथ के संगठन में सम्मिलित हो गये और उनके प्रवर्तकों को गोरखनाथ का शिष्य समझा जाने लगा। इनमें से वाममार्गी, शाक्त, बौद्ध, अघोर आदि सम्प्रदाय भी रहे होंगे यहाँ तक कि उनमें कुछ जैन तान्त्रिक सम्प्रदाय भी अन्तर्भुक्त हुए हैं। डा0 बरूआ ने आजीवकों के कुछ सम्प्रदायों की तुलना नाथपन्थियों से की है और जैन परम्परा से नाथपन्थ का सम्बन्ध जोड़ा है। गोरखनाथ तथा काणहपा की जो शैव कथाएँ मिलती हैं उनसे यह भी ज्ञात होता है कि किसी समय काणहपा की

पद्धति के बहुत से अनुयायी बौद्ध धर्म छोड़ कर शैव नाथपन्थ में दीक्षित हो गये थे। इसी प्रकार अवधूत सम्प्रदाय ने भी किसी समय गोरखनाथ का नेतृत्व स्वीकार कर लिया। दत्तात्रेय को अवधूत सम्प्रदाय का मूल प्रवर्तक माना जाता है, कुछ लोग उसका सम्बन्ध बौद्धों की धूतांग साधना से भी बताते हैं, किन्तु वह योगमार्ग था इसमें सन्देह नहीं।

इस समय गोरखनाथ के नाम पर जो भी ग्रन्थ प्रचलित है या उनके सम्प्रदाय में जो भी प्राचीन ग्रन्थ सर्वमान्य हैं उनमें योगामर्ग के साथ–साथ कहीं कहीं तान्त्रिक प्रवृत्तियाँ भी मिल जाती है। गोरक्ष–सिद्धान्त–संग्रह में षोडश–नित्यातन्त्र का उद्धरण देकर नाथों को तन्त्रों का भी प्रवर्तक मान लिया गया है। ज्ञात यह होता है कि बाद में जो सम्प्रदाय नाथ पन्थ में सम्मिलित हुए उनमें से कई तान्त्रिक प्रकृतियाँ और साधनाएं अपने साथ लेते आये। हठ–योगप्रदीपिका में महामुद्रा का जैसा उल्लेख है और वज्रोली, सहजोली आदि साधनाओं का जो वर्णन है वह स्पष्टतः वज्रयानी परम्परा से प्रभावित मालूम पड़ता है।[1]

दोनों ही प्रकार के सम्प्रदाय जो पूर्ववर्ती थे। गोरखनाथ जी के संगठन में सम्मिलित हो गये थे जिनका प्रभाव गुरु गोरखनाथ पर विशेष रूप से पड़ा। नाथ योगी परम्परा के सूत्र हमें रूद्र की उपासना तथा प्राणायाम की साधना की साधना से मिलते हैं।

वैदिक युग में रूद्र की उपासना की जाती थी ऐसा जान पड़ता है कि अन्य तात्रिंकों की भाँति कपालिक लोग भी विश्वास करते थे कि परम शिवज्ञेय है उपास्य है। नाथ पंथ के आदि प्रवर्तक आदि नाथ या स्वयं शिव माने जाते थे। मत्स्येन्द्रनाथ इन्हीं के शिष्य थे। मत्स्येन्द्रनाथ के कई शिष्य बहुत बड़े पंडित और सिद्ध हुए थे जिनके प्रभाव

1. डा0 धर्मवीर भारती, सिद्ध साहित्य, पृ0 322–325

से यह मार्ग सारे भारतवर्ष में प्रतिष्ठित हो गया।

इन शिष्यों में सबसे प्रधान गोरखनाथ थे। सुप्रसिद्ध म0म0प0 हर प्रसाद शास्त्री का कहना है कि गोरखनाथ पहले बौद्ध थे और बाद में शैव हो गये थे। इसलिए तिब्बत के लामा लोग गोरखनाथ को बड़ी घृणा से देखते हैं।

'गुरुगोरखनाथ' ने ही योगमार्ग के इस अभिनव रूप को प्रतिष्ठित कराया है। प्रसिद्ध भक्त ज्ञाननाथ अपने को गोरखनाथ की शिष्य परम्परा में माना है उनके कथानुसार यह परम्परा इस प्रकार है –

आदिनाथ, मत्स्येन्द्रनाथ्र, गोरखनाथ, गृहिनी (गेनी) नाथ निवृतिनाथ ज्ञाननाथ। ज्ञाननाथ तेरहवीं शताब्दी में वर्तमान थे। इस प्रकार गोरखनाथ ग्याहरवीं या बारहवीं शताब्दी में हुए होंगे। गुरु गोरखनाथ के कई शिष्य बताये जाते हैं जिनमें बालनाथ, हालकिनाथ, मालीपाथ आदि मुख्य थे।

बंगाल के राजा गोपीचन्द्र की माता मयनामति भी इनकी शिष्या थीं। हालांकिपाव, घड़ी या घड़िया नामक अन्त्यज जॉति में उत्पन्न हुए थे। पहले यह बौद्ध थे बाद में नाथपंथी हो गये थे। इन्हीं का एक और नाम जालन्धर नाथ या गोपीचन्द्र इन्हीं जालन्धर के शिष्य थे। राजा भरथरी या मतृहरी भी इन्ही के शिष्य थे।[1]

'गोरखनाथ तथा उनके सम्प्रदाय के विषय में विभिन्न विद्वानों ने जो मत प्रस्तुत किये हैं वे भी प्रमाणिक सामग्री के अभाव में अधिकतर अनुमानात्मक है। जहाँ तक बौद्ध सिद्ध परमपरा और गोरखनाथ का सम्बन्ध है कुछ मतों तथा किवदन्तियों का उल्लेख कर देना आवश्यक मानती हूँ।

बौद्ध किवदन्तियों में गोरखनाथ वज्रयानी साधक माने गये थे। तारानाथ ने उनका बज्रयानी नाम अंनगवज्र बताया है। तथा मा0 हर प्रसाद शास्त्री ने रमणवज्र नाम का उल्लेख किया है। उनका यह भी कहना है कि नेपाल के बौद्ध लोग गोरखनाथ

---

1. प्रो0 हरेन्द्रनाथ शर्मा, भारतीय दर्शन की रूपरेखा, पृ0 196–201

पर बहुत क्रुद्ध हैं और उन्हें पहले बौद्ध धर्म का अनुयायी और बाद में उसका शत्रु मानतें हैं। नेपाल के बौद्धों में एक कथा प्रचलित है कि गोरख के समस्त अनुयायी पहले बौद्ध थे बाद में यवनों के भय से बौद्ध धर्म को छोड़ कर शैव हो गये थें।[1]

सामान्य रूप से गोरख पंथ में नवनाथ प्रसिद्ध हैं –

(1) एकनाथ

(2) आदिनाथ

(3) उदयनाथ

(5) दंडनाथ

(6) सत्यनाथ

(7) संतोषनाथ

(8) कूर्मनाथ

(9) जांलधरनाथ

यह सूची सुधारक द्विवेदी ने प्रस्तुत की थी। परन्तु इसमें गोरखनाथ का नाम नहीं है। योगसम्प्रदाय विषकृति के अनुसार दस मूल पुरुष हैं। मत्स्येन्द्रनाथ, गोरखनाथ, ज्वालेन्द्रनाथ, कारिणामा नाथ, ग्रहणिनाथ, चर्पटनाथ, खेमनाथ, भागनाथ, मतृनाथ तथा गोपीचन्द्रनाथ। इन्हीं के शिष्य प्रशिष्य प्रसिद्ध हुए। इस सम्बन्ध में इस ग्रन्थ में एक मनोरंजक पौराणिक कथा भी दी गई हैं जिसके अनुसार स्वयं शिव गोरखनाथ हुए और उन्होंने मत्स्येन्द्रनाथ से दीक्षा ली। नव नारायण ही नाथों के रूप में अवतरित हुए।

शाबर तंत्र में 24 कालिका है। 12 गुरु तथा 12 शिष्यों के नाम आते हैं। इनमें गुरुओं के तो शिव के ही रूप है परन्तु शिष्यों से नाथों की गणना की गई है। इनमें गोरखनाथ और जालंधरनाथ का नाम तो है मत्स्येन्द्रनाथ का नाम नहीं है।

बौद्धगानओ दोहा के 84 सिद्धों में दूसरे गोरखनाथ और जालंधरनाथ का

---

1. डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी, हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ0 52

नाभ तो है। मत्स्येद्रनाथ का नाम नहीं है। लौहेगानाओं दोहा केशव सिद्धों में दूसरे गोरख नाथ तीसरे चौरंगीनाथ तथा उन्नींसवे जालंधर है। नेपाली परम्परा थोड़ी भिन्न है उसके अनुसार ब्राह्मण तन्त्रों को नव नामों में ही प्रकार किया था। महाराष्ट्र परम्परा में ज्ञाननाथ तत्व की परम्परा है तथा उसके पश्चात भी कुछ परम्पराएँ मिलती है।[1]

साम्प्रदायिक ग्रन्थों में नाथ सम्प्रदाय के उनके अनेक नामों का उल्लेख मिलता है। हठयोग प्रदीपिका की टीका में ब्रह्मानन्द ने लिखा है कि (सब नाथों में प्रथम आदि नाथ है) जो स्वयं शिव है। ऐसा नाथ सम्प्रदाय वालों का विश्वास है इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि ब्रह्मानन्द इस सम्प्रदाय को 'नाथ सम्प्रदाय' के नाम से ही जानते थे। नाथ सम्प्रदाय का विकास हमें क्रमानुसार प्राप्त नहीं है परन्तु नाथ सम्प्रदाय को समझने का पूरा पूरा प्रयास किया गया है। भिन्न–भिन्न ग्रन्थों में यह उल्लेख मिलता है कि यह मत 'नाथोक्त' अर्थात 'नाथों' द्वारा कथित है परन्तु सम्प्रदाय में अधिक प्रचलित शब्द है 'सिद्ध मत' (गोरख सिद्धान्त संग्रह 5) योग सम्प्रदाय (सिद्धान्त संग्रह पद्धति 58) अवद्यूतमत (पृ0 18) अवघूत सम्प्रदाय नाम तो सार्थक ही है क्योंकि इनका मुख्य धर्म ही योगाभ्यास ही है। अपने मार्ग को ये लोग सिद्धमत या सिद्धमार्ग इसलिए कहते हैं कि इनके मत से नाथ ही सिद्ध है। इनके मत का अत्यन्त प्रामाणिक ग्रन्थ सिद्ध सिद्धान्त पद्धति ही है जिससे अठाहरवीं शताब्दी के अन्तिम संग्रह नाम ग्रन्थ लिखा था। इस ग्रन्थ के नाम से पता चलता है है कि बहुत प्राचीन काल से इस मत को 'सिद्धमत कहा जा रहा है। सिद्धान्त वादी और प्रतिवादी द्वारा निर्णित अर्थ को कहते है परन्तु इस सम्प्रदाय में यह अर्थ स्वीकार नहीं किया जा सकता।[1](गोरख सिद्धान्त संग्रह पृ0 18) इसलिए अपने सम्प्रदाय को ही ये लोग 'सिद्धान्त' ग्रन्थ कहते हैं। नाथ सम्प्रदाय में प्रसिद्ध है कि शंकराचार्य अन्त में नाथ सम्प्रदाय के अनुयायी हो गये थे और उसी अवस्था में उन्होंने 'सिद्धान्त बिन्दु' ग्रन्थ लिखा था। अपने मत को ये लोग 'अवघूत मत'

---

1. गोरख सिद्धान्त संग्रह, पृ0 18

भी कहते है। गोरक्ष सिद्धान्त–संग्रह में लिखा है कि हमारा मत तो अवघूत मत ही है (अस्माकमंत त्वनघूतमेथ पृ0 18)[1] कालिदास ने 'अवघूत' (अवघूत) को सम्बोधन करते समय इस मत को ही बराबर ध्यान में रखा है। कभी कभी इस मत के ठगी साधुओं को कच्चे सिद्ध कहा है। गोस्वामी तुलसीदास जी ने 'रामचरितमानस' के शुरु में ही 'सिद्धमत' की भक्ति हीनता की और इशारा किया गोस्वामी जी के ग्रन्थों से पता चलता है कि वे यह विश्वास करते थे कि गोरखनाथ ने योग जगाकर भक्ति को दूर कर दिया था। मेरा अनुमान है कि 'रामचरितमानस' के आरम्भ में शिव की वन्दना के प्रसंग में जब उन्हेंाने कहा था कि श्रृद्धा और विश्वास के साक्षात् स्वरूप पार्वती और शिव है। इन्हीं दो गुणों अर्थात (श्रृद्धा और विश्वास) के अभाव में सिद्ध लोग भी भीतर विद्धमान ईश्वर को नहीं देख पातें तो उनका तात्पर्य इन्हीं नाथपंथियों से था।

यह अनुमान यदि ठीक है तो यह भी सिद्ध है कि गोस्वामी जी इस मत को 'सिद्धमत' ही कहते थे। यह नाम सम्प्रदाय में भी समादृत है और इसकी परम्परा बहुत प्राचीन मालूम होती है। मत्स्येन्द्रनाथ के कौलज्ञाननिर्णय के सोलहवे पटल से अनुमान होता है कि वे जिस सम्प्रदाय के अनुयायी थे उनका नाथ 'सिद्ध' कौल सम्प्रदाय था। डा0 वागची ने लिखा है कि बाद में जिस सम्प्रदाय का प्रर्वतन किया था उसका नाम 'यौगिनी कौलमार्ग' था।

यह सिद्ध कौलमत ही आगे चलकर नाथ परम्परा के रूप में विकसित हुआ।

'कौलज्ञाननिर्णय' की भूमिका में डा0 वागची ने मत्स्येन्द्रनाथ का परिचय प्रस्तुत करते हुए उनका मूल नाम विष्णु शर्मा, जाति ब्रह्मा, जन्म भूमि वारणा (बंगदेश) चर्मानाम श्री गौड़ीश देव, पूजानाम पिम्पलीश देव तथा गुप्त नाम श्री भैरवाानन्द नाथ लिखा है। इनके कीर्ति नाम तीन बताये गये है। (1) वीरानन्द नाथ, (2) इन्द्रानन्ददेव (3)

---

1. गोरख सिद्धान्त संग्रह, पृ0 18

मत्स्येन्द्रनाथ। .

मत्स्येन्द्रनाथ विषयक अनेक कथाओं का संग्रह किया जा चुका है जिन पुस्तकों में इन कहानियों का संग्रह किया गया है उनके नाम है – (1) कौलज्ञान निर्णय (2) फैजुल्ला का गोरक्षविजय (3) श्यामदास की मीन चेतना (4) लेवी द्वारा संग्रहित कथाएँ (5) विभर्सन द्वारा संगहित कथाएँ (6) योगसम्प्रदाय विष्कृति (7) नाथ चरित्र।[1]

नाथ सम्प्रदाय में जिस प्रकार मत्स्येन्द्रनाथ का योगदान है उसी प्रकार जालंधर नाथ की साधना का अध्ययन भी सम्प्रदाय के ज्ञान के लिए आवश्यक है। मत्स्येन्द्रनाथ की भाँति जालंधर के सम्बन्ध में भी अनेक दक्त कथाएँ प्रचलित हैं। जालंध ार नाथ को मत्स्येन्द्रनाथ का गुरु भाई बताया गया है। 'गंगा' पुरातत्वांक में जालंधर की कथा विस्तार से दी गई है। जालंधर के सम्बन्ध में भी अनेक परम्पराएँ प्रचलित है। कुछ परम्पराओं में मत्स्येन्द्रनाथ जालंधर नाथ के भाई कहे जाते तथा कुछ परम्पराओं में मत्स्येन्द्रनाथ के गुरु तिब्बती परम्परा में उन्हें जाति का ब्राह्मण भी माना गया है और छंववाद के शिष्य कूर्पनाथ का शिष्य बताया गया है। इसी परम्परा के अनुसार मत्स्येन्द्रनाथ, कणहपा (कृष्ण्वाद) तथा ततिया गुरुभाई थे। भोटिया परम्परा में तो जालंधर की कड़ी मान्यता है और इन्हें ही आदि नाथ स्वीकार किया गया है। इनके लिए छः सात ग्रन्थ बताये जाते हैं। राहुल जी ने इन्हें तो दो मगही भाषा के ग्रन्थों का रचियता माना गया है। (1) विभक्त मंजरी गीत (2) हुवकार चित्त बिन्दु भावना क्रम तननजुर में प्राप्त बौद्ध ग्रन्थों में इनकी रचनाओं की सूची भी दी गई है। 'योगसम्प्रदाय विष्कृति में भी जालंधर नाथ का विवेचन प्राप्त है जिसके अनुसार इनका नाम ज्वालेन्द्रनाथ था। इस नामकरण का कारण यह बताया है कि ये हस्तिनापुर के पुर्ववंशी राजा वृह्द्रय के यज्ञाग्नि से उत्पन्न हुए थे। पश्चिमी परम्परा में इनका जन्म स्थान नगरभोग है। सभी परम्पराओं में जालंधर

---

1. डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी, नाथ सम्प्रदाय, पृ0 1–3

तथा हस्तिनापुर वाली परम्पराएँ अधिक ठीक प्रतीत होती हैं।

डा0 हजारी प्रसाद द्विवेदी जी ने अपने 'नाथ सम्प्रदाय' में इस समस्या पर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया है। उन्होंने जालंधर तथा उड्डियान दोनों ही वाक्यों का सम्बन्ध जालंधर नाथ से माना है। डा0 वागची ने भी अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'स्टडीज' इन दा तन्त्राज' में इस समस्या पर विचार से किया है। जालंधर पीठ आजकल हिन्दु तीर्थ ही है परन्तु उस स्थान के वातावरण तथा प्रचलित दन्त कथाओं के गहन अध्ययन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि किसी समय वह बौद्ध साधना का प्रसिद्ध केन्द्र था। वर्तमान पीठाधीश्वरी, ब्रजेश्वरी के नाम से यह बात और भी साफ हो जाती है कि यह नाम बौद्ध बृजेश्वरी का वैदिकीकरण है। कुछ भी हो इसमें कोई सन्देह नहीं कि नाथ सम्प्रदाय की साधनाओं में जालंधर नाथ का महत्वूपर्ण योगदान रहा है। पहले कहा जा चुका हैं कि नाथ सम्प्रदाय अनेक साधनाओं का संग्राम है। इस सृष्टि से यह बात उभरकर आती है कि जालंधर नाथ का भी कोई स्वतन्त्र सम्प्रदाय था जिसके प्रसिद्ध पोषक कृष्णवाद थे। कृष्णवाद को जालंधर नाथ का स्मरण बड़े आदर से किया है। कृष्णवाद अनेक नामों से प्रसिद्ध हैं जैसे– कण्हपा कान्हूपा कानपा तथा कानफा आदि।

चौरासी सिद्धों की कई परम्पराओं में कृष्णवाद का नाम आया है। इनके नाम से कही जाने वाली रचनाओं से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि यह सम्प्रदाय के प्रसिद्ध विद्वान और माने हुए सिद्ध थे। बौद्धगान ओ दोहा कृष्णवाद पर विस्तार से लिया गया है। मत्स्येन्द्रनाथ कौल से कौल मार्ग का परिष्कृत रूप से नाथ सम्प्रदाय है। इसी प्रकार नाथ सम्प्रदाय में कापालिक मत का योगदान भी महत्वपूर्ण है। संस्कृत के अनेक ग्रन्थों में कापालिक मत के संकेत मिलते है परन्तु अभी तक यह स्पष्ट नहीं हो सका है कि यह मत मूल में बौद्ध था अथवा शैव। इस साधना का केन्द्र श्री पर्वत माना गया है परन्तु पर्वत भी अन्य अनेक साधना स्थालों के समान शैव शाक्त और बौद्ध साधनाओं का केन्द्र रहा है। हो सकता है कि जालंधर और कृष्णवाद दोनों ही बौद्ध साधक रहे हो परन्तु

अन्त में दोनों निश्चित रूप से शैव हो गये थे।

अनेक महत्वपूर्ण शोधों के पश्चात भी गोरखनाथ के समय का निर्धारण नहीं हो सका है। यदि मत्स्येन्द्रनाथ से गोरखनाथ का सम्बन्ध प्रामाणिक है तो गोरखनाथ का समय मत्स्येन्द्रनाथ के लगभग ही होना चाहिए।

इस सम्बन्ध की मान्यता के आधार पर ही गोरखनाथ का समय 10वीं शताब्दी माना जाता है परन्तु कुछ विद्वान उनके समय को 9वीं शताब्दी से 15वीं शताब्दी तक खींचते रहे हैं।

बौद्ध सिद्धों का समय 8वीं शताब्दी से माना जाता हैं। डा0 सहीदुल्ला के पश्चात् दूसरे सोपान पर कदम रखने वाले राहुल जी है। जिन्होंने सिद्ध साहित्य पर बड़ा परिश्रम किया उन्होंने गोरखनाथ को मत्स्येन्द्रनाथ का समकालीन मानकर उनका समय 10वीं शताब्दी (सन् 902) निर्धारित किया है। डा0 मोहन सिंह ने भी अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'गोरखनाथ एण्ड मेडिवल' हिन्दू 'मिस्टिसिज्म' में लगभग ही समय माना है। डा0 कल्याणी मल्लिक के सिद्ध सिद्धान्त पद्धति की भूमिका में गोरखनाथ के समय पर ऐतिहासिक दृष्टि से विचार किया है। डा0 पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल भी इसी मत के मानने वाले हैं और उन्होंने अंत सूक्ष्म के आधार पर ही 11वीं शताब्दी को प्रामणिक माना है। ब्रिग्स महादेव ने भी अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'गोरखनाथ एण्ड द कनफटा योगीज' में अनेक जनश्रुतियों तथा दन्त कथाओं का हवाला देकर गोरखनाथ का समय 11, 12वीं शताब्दी ही निश्चित किया है। डा0 भंडारकर ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'वैष्णविज्म' शैविज्म एण्ड माइनर रिलिज्म सिस्टमस' में 'ज्ञानेश्वरी' को केन्द्र मानकर गोरखनाथ का समय 1225 ई0 निश्चित किया है।

हिन्दी साहित्य के आलोचनात्मक इतिहास में डा0 रामकुमार वर्मा ने भी डा0 भंडारकर के स्वर में स्वर मिलाकर गोरखनाथ का समय 1250 के लगभग ही स्वीकृत

किया है। डा0 फर्कहार भी प्रायः इसी मत के हैं। डा0 ग्रियर्सन कुछ और आगे बड़े है तथा उन्होंने 14वीं शताब्दी निर्धारित की है। इधर नागरीय प्रचारिणी सभा की खोज रिपोर्ट (1902) के अनुसार गोरखनाथ 15वीं शताब्दी में विद्वान थे। इन सब मान्यताओं के पीछे गोरखनाथ का चमत्कारिक व्यक्तित्व है। उनका नाम अनेक दन्तकथाओं तथा अनुश्रुत्तियों से सम्बन्ध हो गया है।

रसालू से भी गोरखनाथ का सम्बन्ध बताया गया है। रसालू पृथ्वी राज चौहान का समसामयिक था। इसी दृष्टि से गोरखनाथ 11वीं शताब्दी के प्रारम्भ में विद्वमान थे। महामहोपाध्याय गोपीनाथ कविराज जी ने टेम्पल के हवाले से रसालू को भी 8वीं शताब्दी को प्रामाणिक किया है। भर्तहरि का सम्बन्ध भी गोरख नाथ से बताया जाता है। 'अरिर्कभोलाज्किल सर्वे आफ मयूर मन्त्र' के अनुसार भर्तहरि का समय छंठी शताब्दी है।

डा0 मोहन सिंह ने अपने ग्रन्थ 'गोरखनाथ एण्ड मिडिवल हिन्दू मिस्टिसिज्म' में ऐतिहासिक तथ्यों से विस्तार से विचार किया है इसलिए उनकी पुनरावृत्ति की यहाँ आवश्यकता नहीं है। गूगा के सम्बन्ध में भी अनेक दन्त कथाएँ प्रचलित है। कर्नल वंग के अनुसार गूगा राजपूत था जो 1024 ई0 में महमूद गजनवी के हाथों मारा गया था। यह गूगा ही जहाँगीर के नाम से पूजा जाता है। उसके अनेक चमत्कारों की कथाएँ आज भी देश के विभिन्न भागों में प्रचलित है। गूगा का सम्बन्ध मत्स्येन्द्रनाथ, जालंधरनाथ, कानिपा और गोरखनाथ सभी से बताया जाता है। इसलिए इनका समय एक ही माना जाता है। इनके समय का सही पता नहीं चला है। गोरखनाथ तथा गोपीचन्द्र का सम्पर्क भी एक समस्या है।

जनश्रुति यह है कि गोपीचन्द्र ने गोरखनाथ से दीक्षा ली थी। डा0 कालीदास वाग ने गोपीचन्द्र को 12वीं श्ताब्दी का बताया है। 'योगसम्प्रदायविष्कृति' के

अनुसार गोपीचन्द्र 11वीं शताब्दी में कंचनपुर में राज्य करते थे। वागची महोदय का निष्कर्ष है कि गोपीचन्द्र कौड वंग के तिलकचन्द्र के पुत्र थे। बंगाली परम्परा में गोपीचन्द्र मिलचन्द्र का पुत्र माना जाता है और राजा भर्तहरि का भांनजा इस परम्परा के अनुसार भर्तहरि की बहन मैनावती उनकी माता थी और चन्द्रवती उनकी बहन। चन्द्रवती का विवाह सिंहलदीप राजा अग्रसेन से हुआ था। यह परिवार नाथ सम्प्रदाय में दीक्षित था। इस सम्बन्ध में अनके दन्त कथाएँ प्रचलित है जिनके अनुसार यह 8वीं 12वीं शताब्दी तक फैला हुआ है।

भर्तहरी के सम्बन्ध में भी अनेक कथाएँ प्रचलित है उसके आधार पर उनका समय छठी शताब्दी से ग्यारवीं शताब्दी तक फैला हुआ है। तिब्बती परम्परा में भर्तहरि को धर्मकीर्ति का समसामायिक बताया जाता है जो 7वीं शताब्दी में विद्मान था। साथ ही उनका सम्बन्ध पिंगला नाम की स्त्री से बताया जाता है जो राजा भोज की बहिन थी और जिनका समय 1018 से 1060 है।

इस प्रकार आलोचकों ने 11वीं 12वीं शताब्दी में गोरखनाथ को विद्यमान बताया था। इधर अनेक सन्तों के साथ संवाद की चर्चा दन्तकथाओं में है। उस दृष्टि से उनका समय और भी आगे खींचा जा सकता है। स्पष्ट है कि संतों के साथ गोरखनाथ के संवाद को प्रामाणिक नहीं माना जा सकता। इस प्रकार गोरखनाथ का समय 10–11वी शताब्दी मानना ही उचित है।

नाथों का प्रचार 9वीं से 16वीं शताब्दी तक फैला हुआ है तथा आज भी इस सम्प्रदाय के साधु तथा गद्दियाँ भारत में मिलती है। हम यह भी कह सकते हैं कि नवनाथ की प्रसिद्ध बहुत पुरानी है जो शायद नव नारायणों के आधार पर ही है। इनके नाम तथा स्थान भिन्न हैं। नव नाथों की भाँति षोडश नाथों तथा द्वादश नाथों की कल्पना भी सम्प्रदाय में है। एक मान्यता यह भी है कि गोरखनाथ जी से पहले योगियों के 18 पंथ थे गोरखनाथ ने इसमें से बारह को नष्ट कर दिया और केवल 6 को स्वीकार किया और

अपने नये उपकुलों की ओर स्थापना की। इस प्रकार नाथ सम्प्रदाय कि विकास परम्परा चलती रही उनमें कुलों का हेर फेर तो होता ही रहा। कभी कोई कुल अधिक हो गया तथा कभी कोई किसी ने नये कुल को बढ़ा दिया गया। गोरखनाथ की छाप 12 उपकुलों पर लगी बनर्जी महोदय ने अपनी पुस्तक 'श्री गमरिनाथ प्रसंग' तथा 'नाथपंथ के हिन्दी कवि' में 12 की सूची प्रस्तुत की है। डा0 हजारी प्रसाद द्विवेदी जी ने अपने ग्रन्थ 'नाथ सम्पद्राय' में इस सूची को उदधृत किया है।

इन 12 कुलों के मूल स्थान प्रतिष्ठापक तथा गुरु आदि के सम्बन्ध में आज भी मतभेद है कि इस सूची में ध्यान देने योग्य बात यह है कि गोरखनाथ से किसी उपकुल का सीधा सम्बन्ध नहीं है। इसका एक समाधान यह हो सकता है कि गोरखनाथ शिवा के साक्षात अवतार थे। आदिमानव इसलिए उपकुलों से उनका कोई सीधा सम्बन्ध नहीं था। उनका सम्बन्ध सभी उपकुलों से था। सम्पूर्ण देश में उनका साम्राज्य था। नौ नाथों तथा 12 कुलों का व्यवस्थित तथा ऐतिहासिक विश्लेषण प्राप्त नहीं होता है। जनश्रुतियों के आधार पर ही विद्वानों ने उनका इतिहास प्रस्तुत किया है।[1]

यहाँ नाथों की वेशभूषा का वर्णन अपेक्षित है नाथ योगी को स्पष्ट रूप से पहचाना जा सकता है। मेखला, श्रृंगी, सेली, गूदरी, खप्पर, कर्ण–मुद्रा, बंघबर, झोला आदि चिन्ह ये लोग धारण करते हैं। पहले ही बताया गया है कि कान फाड़कर कुंडल धारण करने के कारण ये लोग कनफटा कहे जाते हैं। कान फड़वाने की प्रथा किस प्रकार शुरू हुई इस विषय में नाना प्रकार की दन्तकथाएँ प्रचलित हैं। कुछ लोग बताते हैं कि स्वयं मत्स्येद्रनाथ (मछन्दरनाथ) ने इस प्रथा का प्रवर्तन किया। "उन्होंने शिव के कानों में कुण्डल देखा था और उसे प्राप्त करने के लिए कठिन तपस्या की थी, एक दूसरा विश्वास यह है कि गोपीचन्द्र की प्रार्थना पर जालन्धरनाथ ने इस पंथ के योगियों को

---

1. डॉ0 मनीषा शर्मा, गोरखबानी– परम्परा और काव्यत्व, पृ0 20–24

अन्य सम्प्रदाय वालों से विशिष्ट करने के लिये इस पंथ को चलाया था। कुछ लोगों का कहना है कि गोरखनाथ ने भरथरी का कान फाड़कर इस प्रथा को चलाया था। भरथरी के कान में गुरु ने मिट्टी का कुण्डल पहनाया था। अब भी बहुत से योगी मिट्टी का कुण्डल धारण करते हैं परन्तु इसके टूटने की सदा आशंका बनी रहती है इसलिये धातु या हरिण के सींग की मुद्रा धारण की जाती है। जो विषय स्त्रियॉ संम्प्रदाय में दीक्षित होती है वे भी कुण्डल धारण करती है और .... योगियों की पत्नियॉ भी इसे धारण करते पाई जाती है। गोरखपंथी लोगों का शुभ दिन को (विशेष कर वसन्त पंचमी को) कान को चिरवाकर मंत्र के संस्कार के साथ इस मुद्रा को धारण करते हैं। उन लोगों का विश्वास है कि स्त्रियों के दर्शन के घाव पक जाता है इसलिये जब तक घाव अच्छा नहीं हो जाता तब तक स्त्री दर्शन से बचने के लिये किसी कमरे में बंद रहते हैं, और फलाहार करते हैं। कान का फट जाना भावाजोखी का व्यापार माना जाता है। जिस योगी का कान खराब हो जाता है वह सम्प्रदाय से अलग हो जाता है और पुजारी का अधिकार खो देता है। यह कर्णकुण्डल निस्संदेह योगी लोगों का बहुत पुराना चिन्ह है परन्तु कुछ ऐसे भी हैं जो इसे नहीं धारण करते ये लोग औघड़ कहे जाते है। औघड़ लोगों का जब कर्णमुद्रा संस्कार हो जाता है तब उन्हें योगी कनफटा कहा जाता है। ऐसे भी औधड़ हैं जो आजीवन कर्णमुद्रा धारण करते ही नहीं। कहते हैं कि हिंगलाज में दो सिद्ध एक शिष्य का कान चीरने लगे थे पर हर बार छेद बन्द हो जाता था। तभी से औघड़ लोग कान चिरवाते ही नहीं। सुधारक मनोवृत्ति के योगी लोग मानते हैं कि श्रीनाथ ने यह प्रथा इसलिये चलाई होगी कि कान चिरवाने की पीड़ा के भय से अनधिकारी लोग इस सम्प्रदाय में प्रवेश ही नहीं कर सकेंगे।

पद्मावत में मलिक मुहम्मद जायसी ने योगियों के वेश का सुन्दर वर्णन दिया है। उस पर से अनुमान किया जा सकता है कि योगियों का जो वेश आज है वह दीर्घ काल से चला आ रहा है। योगी वेश धारण करने वाले रत्नसेन राजा ने हाथ में

किंगरी, सिर पर जटा, शरीर में भस्म, मेखला, श्रंगी, योग को शुद्ध करने वाला धाँधरी चक्र, रूद्राक्ष और अधार (आसन का पीढ़ा) धारण किया था कंथा पहन कर हाथ में सोंटा लिया था और 'गोरख गोरख' की रट लगाता हुआ निकल पड़ा था उसने कान में मुद्रा, कंठ में रूद्राक्ष की माला, हाथ में कमण्डल, कंधे पर बघम्बर (आसन क लिये), पैरों में पॉवरी, सिर पर छाता और बगल में खप्पर धारण किया था। इन सब को उसने गेहुएं रंग में रंगकर लाल कर किया था। कबीरदास के अनेक पदों से पता चलता है कि जोगी लोग मुद्रा, नाद, कंथा, आसन, खप्पर, झोली, विभूति, बटुवा आदि धारण करते थे, यंत्र अर्थात् सारंगी यंत्र का व्यवहार करते थे (गोपीचन्द्र का चलाया हुआ होने के कारण सारंगी को गोपीयंत्र कहते हैं), मेखला और भस्म धारण करते थे। (क0ग्रं0 205, 205, 207, 208) और अजपा जाप करते थे (209)[1] इसी प्रकार सूरदास के भ्रमरगीत में गोपियों ने जिन योगियों की चर्चा की है उनका भी यही वेश वर्णित है।

इन चिन्हों में किंगरी एक प्रकार की चिकारी है जिसे पौरिये या भर्तृहरि के गीत गाने वाले योगी लिए फिरते हैं, मेखला मूंज की रस्सी का कटिबंध है और सींगी हरिण के सींग का बना हुआ एक बाजा है जो मुँह से बजाया जाता है। औघड़ और योगी दोनों ही एक प्रकार का 'जनेव' धारण करते हैं जो काले भेड़े की ऊन से बनाया जाता है। हर कोई उसे नहीं बना सकता। संप्रदाय के कुछ लोग ही, जो इस विद्या के जानकार होते हैं, उसे बनाते हैं। ब्रिग्स (पृ0 11) ने लिखा है कि हुमाँयू के योगी रूई के सूत का 'जनेव' भी धारण करते हैं। इसी सूत में एक गोल 'पवित्री' बँधी रहती है जो हरिण की सींग या पीतल तांबा, आदि धातु से बनी होती है। इसमें रूई के सफेद धागे से श्रृंगी (सिंगी नाद) नाम की सीटी बँधी रही है और रूद्राक्ष की एक मनिया भी झूलती रहती है। प्रातः और संधकालीन उपासना के पूर्व और भोजन ग्रहण करने के पूर्व योगी लोग इसे बजाया करते हैं। इस सिंगनाद के बँधे रहने के कारण ही 'जनेव' को 'सिंगीनाद–जनेव' कहते हैं। मेखला सब योगी नहीं धारण करते। कुछ योगी काले भेड़े के ऊन की बनी

मेखला कमर में बाँधते हैं। लंगोटी पहनने में इस मेखला का उपयोग होता है। एक और प्रकार की मेखला होती है जिसे धारण करने के बाद योगी को भिक्षा के लिये निकलना ही पड़ता है। इसे हाल मटंगा कहते हैं। ऐसे योगी भी है जो सिंगनाद जनेव नहीं धारण करते और दावा करते हैं कि ये चिन्ह उन्होंने अन्तर में धारण किया है या चमड़े के नीचे पहने हुए है। मस्तनाथ नामक सिद्ध के विषय में प्रसिद्ध है कि उन्होने अपने चमड़े के नीचे जनेव दिखा दिया था। कबीरदास ने उसी योगी को योगी कहना उचित समझा था जो इन चिन्हों को मन में धारण करता है।

'धंधारी' एक तरह का चक्र है। गोरखपंथी साधु लोहे या लकड़ी की शलाकाओं के हेर–फेर से चक्र बना कर उसके बीच में छेद करते हैं। इस छेद में कोड़ी या भालाकार धागे को डाल देते हैं। फिर मंत्र पढ़कर उसे निकाला करते हैं। बिना क्रिया जाने उस चक्र में से सहसा किसी से डोरा या कौड़ी नहीं निकल पाती। ये चीजें चक्र की शलाकाओं में इस प्रकार उलझ जाती हैं कि निकालना कठिन पड़ जाता है। जो निकालने की क्रया जानता है वह उसे सहज ही निकाल सकता है। यही 'धाँधरी' या गोरखधंधा है। गोरखपंथियों का विश्वास है कि मंत्र पढ पढ़ कर गोरखधंधे से डोरा निकालने से गोरखनाथ की कृपा से ईश्वर प्रसन्न होते हैं और संसार चक्र में उलझे हुए प्राणियों को डोरे की भाँति इस भवजाल सें मुक्त कर देते हैं।

रूद्राक्ष की माला प्रसिद्ध ही है। योगी लोग जिस माला को धारण करते हैं। उसमें 32, 6, या 0 मनके होते है। छोटी मालायें जिन्हें 'सुमिरनी' कहते हैं या मनकों की होती है और एक लाई में बंधी रहती है। रूद्राक्ष शब्द का अर्थ रूद्र या शिव की ऑख है। तंत्रशास्त्र के मत से यह माला जपकार्य में विशेष फलदायिनी होती है। इस रूद्राक्ष में जो खरबूजे के फॉक जैसी जो रेखायें होती हैं उसे 'मुख कहते हैं। जप में प्रायः पंचमुखी रूद्राक्ष का विशेष महत्व है। एकमुखी रूद्राक्ष बड़ा शुभ माना जाता है। घर में उसके रहने से लक्ष्मी अविचंल हो कर बसती है। जिसके गले में एकमुखी रूद्राक्ष हो उस

पर शस्त्र की शक्ति नहीं काम करता ऐसा विश्वास है। एकमुखी रूद्राक्ष असल में एकामुखी ही है या नहीं इस बात की परीक्षा के लिये प्रायः भेड़े के गले में बांध कर परीक्षा की जाती है। यदि भेड़े को गर्दन शस्त्र से कट जाय तो वह नकली माना जाता है। यदि न कटे तो सच्चा एक मुखो रूद्राक्ष समझा जाता है। ग्यारह मुख वाला रूद्राक्ष भी बहुत पवित्र समझा जाता है। गृहस्थ योगी साधारणतः दोमुख वाले रूद्राक्ष से जप करने को अधिक फलदायक मानते हैं।

'अधारी' (आधार) काठ के डंडे में लगा हुआ काठ का पोढ़ा (आसा) है, जिसे योगी लोग प्रायः लिये फिरते हैं और जहॉं कहीं रख कर उस पर बैठ जाते हैं। बिना अभ्यास के इस पर बैठ सकना असंभव है। कंथा गेरूए रंग की सृजनी का चोलना है जो गले में डाल लेने से अंग को ढॉक लेता है। इसी को गूदरी कहते हैं। यह फटे पुराने चिथड़ों की बटोर कर सी ली जानी चाहिए। गेरूआ या लाल रंग ब्रह्मचर्य का साधक माना जाता है। इसे धारण करने से वीर्यस्तंभ को शक्ति बढ़ती है। ब्रिग्स ने एकदन्त कथा का उल्लेख किया है जिसके अनुसार पार्वती ने पहले–पहल अपने रक्त से रंग का एक चोलना गोरखनाथ को दिया था। कहते हैं तभी से लाल (गेरूआ) रंग योगी लोगों का रंग हो गया है। 'सोंटा' झाड़ फूंक करने का डंडा है जो हाथ डेढ़ हाथ के काले रूलर के ऐसा होता है। बहुत से योगी इसे भैरवनाथ का और बहुत से गोरखनाथ का डंडा या सोंटा कहते हैं। योगी लोग शरीर में भस्म लगाते हैं और ललाट पर और बाहुमूल तथा हृदय देश पर भी त्रिपुण्ड लगाया करते हैं। गूदरी का धारण करना योगी के लिए आवश्यक नहीं है। बहुत योगी तो भारबंद (मेखला) से बंधी हुई लंगोटी ही भर धारण करते हैं और बहुत से ऐसे भी मिलते हैं जो लंगोटी भी नहीं धारण करते। 'खप्पर' मिट्टी के घड़े के फोड़े हुए अर्द्ध भाग को कहते हैं। आज कल यह दर्शायी नारियल का बनता है। बहुत से योगी कॉसे का भी खप्पर रखते है। इसलिए खप्पर को 'कॉसा' भी कहते हैं। खप्पर

का एक मनोरंजक अवशेष 'जोगीड़े' नामक अश्लील गानों के गाते समय लिया हुआ चौड़े मुँह का वह घड़ा है जिसमें गुरु लोग ऑख रख कर जादू से हाथ पर लिये फिरते हैं।

निष्कर्षतः नाथ सम्प्रदाय के विकास के संदर्भ में दो विचार भी प्रचलित हैं–

1– नाथ पन्थ का विकास बौद्ध परम्परा से हुआ।

2– नाथ पन्थ का विकास शैव परम्परा से हुआ।

इसमें पहला मत अधिक उपयुक्त जान पड़ता है क्योंकि नाथों और बौद्ध सिद्धों की जो सूचियाँ मिलती हैं, उनमें अनेक नाम सामान्य हैं।

वस्तुतः गोरखनाथ के युग में बौद्ध, शैव, तन्त्र, योग और वैष्णव परम्पराओं के प्रतीयमान विरोधी को परिहार होता रहता है। उसमें परम्पराएँ अत्यन्त निकट आ गयी है।

यौगिनी कौल मार्ग के प्रवर्तक मत्स्येन्द्रनाथ अवलोकितेश्वर के अवतार समझे जा रहे हैं। शिव गोरखनाथ के रूप में अवतरित हो रहे हैं। बौद्धों द्वारा छिन्नमस्ता तारा आदि देवियों की उपासनाा हो रही है। बामाचार और दक्षिणाचार मिल रहे हैं। पांच रात्रों में शैव भागवत सम्प्रदाय का विकास हो रहा है। ऐसी स्थिति में समूचा मध्ययूग भारतीय धर्म साधना के इतिहास के गूड़तम युग के रूप में उभरता है।

मध्ययुग धर्म साधना की दृष्टि परम्पराओं के परस्परानु प्रवेश का युग कहा जा सकता है। ऐसा परस्परानुप्रवेश तभी सम्भव है जब विभिन्न पन्थ मूलतः एक हो और दार्शनिक बारीकियाँ उपेक्षित रहे अपने देश के तथा कथित मध्ययुग के समूचे इतिहास को अगर बारीकी से देखा जाये तो भारतीय सभ्यता के इतिहास की अनेक धारणाओं पर प्रश्नचिन्ह लग जाता है।[1]

---

1. डॉ0 मनीषा शर्मा, गोरखबानी– परम्परा और काव्यत्व, पृ0 27–37

(3) नाथ सम्प्रदाय का स्वरूप और हठयोग

इस अध्याय में गोरखबानी के आधार पर नाथ सम्प्रदाय की संस्कृति को उसकी समग्रता में उद्घाहित करने का प्रयास किया गया है। गोरखबानी ने जिस हठयोग का उपदेश दिया है वह पुरानी परम्परा से बहुत अधिक भिन्न नहीं है। शास्त्रों ग्रन्थों में हठयोग साधारणता प्राण निरोध प्रधान साधना को ही कहते हैं। 'सिद्धसिद्धान्त पद्धति' में 'ह' का अर्थ सूर्य बताया गया है और 'ठ' का अर्थ चन्द्र। सूर्य और चन्द्र के योग को ही 'हठयोग' कहते हैं –

हंकारः कथितः सूर्यण्ठकारशचन्द्र उच्यते।
सूचीचंद्रमसोर्योबात हठयोगी निगघते।।

इस श्लोक की कही हुई बात की व्याख्या अन्य प्रकार से भी संभव है। ब्रहमानन्द के मत से सूर्य से तात्पर्य प्राणवायु से है और चन्द्र से अपान वायु का। इन दोनों का योग अर्थात प्राणायाम से वायु का विरोध करना ही हठयोग है। दूसरी व्याख्या है सूर्य इड़ा नारी को कहते हैं और चन्द्र पिंगला को (हठ 03.15) इसलिए इड़ा और पिंगला नाड़ियों को रोककर सुषुम्ना मार्ग से प्राण वायु के संचारित करने को भी हठयोग कहते है। इस हठयोग को 'हठसिद्धि' देने वाला कहा गया है। यहाँ बोधि प्राप्ति को विधि‍ा बता लेने के बाद आचार्य ने बताया है कि यदि ऐसा करने पर भी बोधि प्राप्त न हो तो 'हठयोग' का आश्रय कर कुमार लेना चाहिए।[1]

गोरखबानी के आधार पर गोरखी संस्कृति और साधना को निम्नलिखित शीर्षकों में विवेचित किया जा सकता है।

1. मूल स्वरूप
2. गुरुतत्व
3. परमतत्व

---

1. डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी, नाथ सम्प्रदाय, पृ0 123

4. गोरखी संस्कृति

(1) <u>मूल स्वरूप :</u> हठयोग के विभिन्न अंगों उपागों तथा साधनाओं का विवेचन विश्लेषण योग ग्रन्थों का प्रतिपाद्य है। पांतजल योग दर्शन का अष्टांग योग भी नाथ ग्रन्थों में स्वीकार्य है तथा षडंग योग का भी प्रतिपादन हुआ है। 'गोरक्षशतक' में षड़ग योग की चर्चा है तथा 'सिद्धसिद्धान्तसंग्रह' में अष्टांग योग की। नाथ सम्प्रदाय सिद्धान्त पक्ष का विवेचन 'सिद्धसिद्धान्तपद्धति' में विशेष रूप से हुआ है। इस महत्वपूर्ण ग्रन्थ में छः उपदेशों में सम्प्रदाय के महत्वपूर्ण विषयों पर प्रकाश डाला गया है। उपदेश में पिंड और ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति का तथा परमसत्ता के स्वरूप का विवेचन है। उसे दिककालनिरपेक्ष भेदातीत तथा शाश्वत बताया गया है। वह अपनी शक्ति के द्वारा असंख्य व्यष्टि पिंडों के रूप में व्यक्त होता है तथा प्रत्येक पिंड में अर्न्तयामी के रूप में निवास करता है। इस प्रकार पिंड और ब्रह्माण्ड का सम्बन्ध निर्धारित करने के पश्चात, आचार्य ने दूसरे अध्याय में व्यष्टि पिंड की आन्तरिक रचना पर विचार किया है तथा चक्र, आधार, लक्ष्य और व्योम पर भेदों एवं प्रवेदों के साथ विस्तार से विचार किया है। पिंड के भीतर नव चक्र सोलह आधार, तीन लक्ष्य तथा पाँच आकाश विवेचित हैं इसी सन्दर्भ में शरीर के विशिष्ट भागों तथा उनकी स्थिति पर भी विचार किया गया है तथा उन पर ध्यान केन्द्रित करने की विधि बतायी है जिसमें मन उच्च से उच्चतर स्तर को प्राप्त हो सके। तीसरे अध्याय में पिंड तथा ब्रह्माण्ड की विस्तृत व्याख्या की गयी है तथा दोनों की मूलभूत एकता का प्रतिपादन किया गया है। चतुर्थ पिंडाधार का अध्ययन हुआ है। समस्त पिंडों का आधार एक परम आध्यात्मिक शक्ति है जो अद्वैतरूपा है। यह दिव्य शक्ति ही सारे पिंडों के सम्बन्धों का नियन्त्रण करती है। यह शक्ति शक्तिमान शिव से अभिन्न है। यह अपने पारमार्थिक रूप से शिव और व्यवहारिक रूप से शक्ति है। समाधिस्त योगी दोनों में एकत्व का अनुभव करता है। पाँचवे अध्याय में सामरस्य की स्थिति और उपलब्धि पर विचार किया गया है। इस स्थिति से व्यष्टि–पिंड का समष्टि पिंड के साथ पिंडों का परम शक्ति के साथ तथा

शक्ति का शक्तिमान के साथ एकत्व का प्रतिपादन किया गया है। सामरस्य की स्थिति सिद्धि चरमावस्था है जहाँ पहुचँ कर ससीम और असीम जीव और शिव तथाा आत्म और अनात्म का भेद समाप्त हो गया है।

इसकी अनुभूति परमानन्दमय होती है। इस स्थिति को करने वाला योगी ही सही अर्थों में नाथ कहलाता है और उसकी अवस्था सहजावस्था होती है। उसके सामान्य जीवन में एक दिव्य प्रकाश रहता है तथा सांसारिक कार्यों में व्याप्त होने पर भी उसकी अवस्था सहज और निसंग होती है। वह 'मति' का स्थितिप्रज्ञ है।

योग के मूल भूत तत्व चार है – (1) बिन्दु, अर्थात शुक्र (2) वायु, (3)मन, (4) बाक्र् या वाणी।

इसमें से यदि एक को वश में कर लिया जाए तो दूसरे भी स्वयं वशीभूत हो जाते हैं। इनको वश में करने के लिए काया–योग का निधान किया गया है। काया शुद्धि के लिए षटकर्मा आवश्यक है। धोति, वस्ति, नेति, त्राटक नैलि तथा कपालभाँति। षटकर्म से नाड़ी शुद्ध होती है और सुषुम्ना का मार्ग प्रशस्त हो जाता है। नाड़ी शुद्धि से प्राणादि वायुओं का भी नियन्त्रण हो जाता है। जिसमें कुंडलिनी उद्धबुद्ध होकर चक्रों का भेदन करती हुई सहस्रार तक पहुँचती है जहाँ सामरस्य की उपलब्धि होती है।

'योगशिवोपनिषत्' में चार प्रकार के भागों की चर्चा हुई है –

(क) मन्त्र योग,

(ख) हठयोग,

(ग) लययोग,

(घ) राजयोग।

हठयोग के ग्रन्थों में इन चारों ही योगों का समावेश हो गया है। योग सम्बन्धी अनेक मूल तथा आलोचना –ग्रन्थों में छः चक्रों, सोलह, आधारों, दो लक्ष्यों तथा पाँच व्योमों का विस्तार से वर्णन हुआ है तथा योग के आठ तथा छः अंगों की भी व्याख्या

हुई है साथ ही छः कर्मों का भी विधि, विधान से विवेचना हुआ है। इसलिए हम उन सबका विवेचन अनावश्यक पुनरावृत्ति ही समझते हैं।

'गोरखबानी' का समीक्षात्मक अध्ययन हमारा प्रतिपाद है। इसलिए उसी के सन्दर्भ में योग साधना की व्याख्या विधेय है। नाथ सम्प्रदाय की हिन्दी रचनाओं में इस साधना का पूर्ण विवेचन मिलता है।

ब्रह्माचार्य तथा आचार। इस योग की आधार शिलाएँ है व नाथ योगी केवल मात्र हठयोगी ही नहीं होता, बल्कि उसका परम लक्ष्य द्वैतादैत निर्वाचित सामरस्य स्थिति को प्राप्त करना होता है। प्राणायाम इसकी प्राप्ति का साधन है जिसमें काया सिद्ध होती है तथा वह बिन्दु पात, जरा, मरण आदि से अतीत हो जाती है। यह सहजावस्था होती है जिसमें ब्रह्मा वेश भूषा कोई महत्व नहीं रखती है। योग साधन पंखुड़ियों की वस्तु नहीं है इसमें तो कथनी और करनी तथा वाद–विवाद आदि सब निरर्थक होते हैं।

(2) <u>गुरुतत्व :</u> नाथ सम्प्रदाय के संस्कृत ग्रन्थों में गुरु–शिष्यवाद और अधिकारवाद की विशेष चर्चा हुई है। 'गोरखबानी' में अनेक स्थलों पर विषयों को स्पष्ट किया गया है। 'गोरखबानी' के अनेक पदों में गुरु के महत्व पर प्रकाश डाला गया है और निगुरा व्यक्ति को सब प्रकार से साधनहीन बताया है।

गुरुकी जै गहिला निगुरा न नहिला।
गुरु बिंन ग्यांन न पाईला रे भाईला।।[1]

गुरु ज्ञान का ही प्रतीक नहीं, बल्कि वह सम्पूर्ण ब्रह्मा सम्पत्ति का भण्डार होता है। साधक के चंचल और मदोन्मत्त मन को वश में करने वाला एक मात्र उपाय गुरु ज्ञान का वाण है। गुरु तथा शिष्य में केवल इतना ही अन्तर है कि गुरु के पास ज्ञान तत्व अधिक होता है तथा शिष्य के पास ज्ञान तत्व कम होता है। अधिक तत्व वालों से कम तत्व वाले को सदा ज्ञान ग्रहण करना चाहिए।

---

1. डॉ0 बड़थ्वाल, गोरखबानी, पृ0 128

इस ज्ञान को प्राप्त कर लेने के बाद शिष्य के लिए यह जरूरी नहीं है कि गुरु के पीछे–पीछे भटकता ही फीरै। मन में जचे तो साथ रह सकता है न जचे तो अकेला रह सकता है –

अधिक तत्व ते–गुरु बोलिये हंगे तत्व ते चेला।

मन मांनै तो संगि रमौ नहीं तो रमो अकेला।।[1](गोरख0 पृ0 55)

यह संसार का मार्ग बीहड़ और कंटकाकीण है। इसको प्रकाशित करने वाला एकमात्र गुरुज्ञान का प्रकाश ही है। गुरु के गौरवमय ज्ञान की भी 'गोरखबानी' में विस्तार से चर्चा हुई है। यहाँ तक की समाधि की रक्षा करने में भी गुरु का ही हाथ होता है।

त्रिगुणात्मिकता माया से गुरु के द्वारा ही रक्षा होती है। गुरु तत्व ही नाथ तत्व है जिसके बिना परमपद अथवा सामरस्य की उपलब्धि सम्भव ही नही है। 'गोरखबानी' में गुरु और शिष्य के एकत्व का प्रतिपादन भी तत्वों के आधार पर किया गया है। नाथ सम्प्रदाय के अनुसार गुरु में 36 तत्व और शिष्य में 32 तत्व माने गये हैं। चार तत्वों के सम्पादन से शिष्य भी गुरु तुल्य हो जाता है।

'गोरखबानी' के अनुसार 36 लक्षणों से मुक्त गुरु ही पूर्ण गुरु होता है। अधूरे गुरु से कुल नाश सम्भव है। इस प्रकार परमतत्व के ज्ञान के लिए अनिवार्य है।

पिंड ज्ञान अथवा कायासिद्धि गुरु के द्वारा ही सम्भव है। पिंड पश्चिम के लिए गुरुमुख का आश्रय लेना होगा मन किसी न किसी आश्रय में आवश्य रहेगा। उसकी चार स्थितियाँ हैं– आशा, उदासीनता, गुरु और कामिनी।

इनमें उदासीनता और गुरु ही मन की श्रेष्ठ स्थितियाँ है। 'गोरखबानी' में गुरु सम्बन्धी अनेक पद तथा सखियाँ है। इस समबन्ध में अनेक पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग हुआ है जैसे– गुरु–मुख, जारणा, पारस, आदि। व्याख्याकारों ने इन शब्दों की

---

1. डॉ0 बड़थ्वाल, गोरखबानी, पृ0 55

विभिन्न व्याख्याँ की हैं।

(3) <u>परमतत्व :</u> हठयोग का लक्ष्य परमतत्व की प्राप्ति है। इस तत्व को नाथ पंथ में सद्सद् विलक्षण कहा गया है। 'गोरखबानी' के प्रारम्भ में ही इस तत्व का विवेचन हुआ है। 'गोरखबानी' में स्पष्ट लिखा है कि इस तत्व का साधक ही योगेश्वर हो सकता है। यह तत्व अलक्ष्य, अवर्णनीय तथा अनिवार्यनीय है। इस तत्व को धारण करने के लिए परिपक्व काया की आवश्यकता है। इस तत्व का साक्षात्कार नाद–रुप में सहस्रार चक्र में होता है। यह योग युक्त ज्ञान से ही सम्भव है। – "जोग जुक्त जब पायो ग्याना। काया षो जो पद नृवाना"। नाथ–योग में काया–शुद्धि के सम्बन्ध में अनेक पद है। शायद इसलिए नाथ–योग को काया योग कहा है। इस काया की शुद्धि के बिना न तो पिंड का ही ज्ञान सम्भव है और न ब्रहमाण्ड का ही । पिंड पद ही परम पद में स्थिति ही नाथ योग का सार है। 'गोरखबानी' अर्थात यह अंजन अर्थात माया से रहित है। इसलिए यह स्वरूप अग्राहा है। इसकी प्राप्ति का एकमात्र उपाय उन्मनि समाधि है। 'गोरखबानी' में उन्मनि समाधि की भी विस्तार से चर्चा हुई है। इस अवस्था की अनुभूति दशम द्वारा ब्रह्मारन्द्र, सहस्रार, केदार, कैलाश, गगन, शिखर आदि में सब स्थितियाँ पिंड में ही है। इसलिए पिंड में ब्रह्माण्ड की खोज बतायी गयी है।

'ब्रह्माण्ड– शब्द की 'गोरखबानी' में दो अर्थों में खोज बातयी गयी है। 'ब्रह्माण्ड' शब्द भी 'गोरखबानी' में दो अर्थों मे प्रयुक्त हुआ है। (1) ब्रह्मा, सृष्टि तथा (2)गगन–मंडल, ज़हाँ शिव निवास करते हैं।

जीव का वास मूलाधार में हैं। कुंडलिनी ही जीव शक्ति है जो उत्थित होकर गगन मंडल की ओर जाती है और शिव में विलीन होकर शिवत्व को प्राप्त करती है। 'गोरखबानी' में इस प्रक्रिया का वर्णन बड़े रौचक प्रतीकात्मक ढंग से किया है। कुंडलिनी महाकुंडलिनि पद को प्राप्त करती है तथा पाताल गंगा का ब्रह्माण्ड में संक्रमण होता है। 'गोरखबानी' में इस संक्रमण का भी विस्तृत विवेचन हुआ है। यह संक्रमण साड़े

तीन हाथ के शीरिरमें होता है। इसी शरीर को नगर, पारण गढ़ कोर आदि अनेक नामों से अभिहित किया गया है। इस नगर परिभ्रमण के लिए इसका पूर्ण ज्ञान आवश्यक है। इसमें सब देवताओं तथा तीर्थों का वास है। इन सबकी वाणी में परिचय दिया गया है। इस मन्दिर का सर्वश्रेष्ठ देवता तो आत्म तत्व ही है परन्तु इसके विभिन्न स्थानों पर और देवताओं का वास है। शरीर के नवद्वारों में नव नाथ रहतें हैं। जगन्नाथ का निवास त्रिवेणी में है तथा केदार तीर्थ दशम द्वार अथवा ब्रह्मारन्द्र में है। शिव तत्व का पवित्र पुरी काशी का दर्शन इसी स्थान पर होता है। 'गोरखबानी' में अनेक स्थानों पर पिंड का अनेक रूपकों तथा प्रतीकों द्वारा वर्णन किया गया है।

शरीर का निर्माण चार तत्वों पृथ्वी, जल, तेज तथा वायु तत्वो से हुआ है। इसमें 13 द्वार है। 3 गुप्त तथा 10 प्रकट है। इन 10 द्वारों में 9 रन्ध्र है तथा दशम रन्ध्र ब्रह्मा रन्ध्र कहलाता है। नाड़ियों की संख्या 72,000 है। दस नाड़ियाँ प्रधान है जिसमें सुषुम्ना सब से प्रधान है। चक्रों के कमल दल 50 है। इसमें 360 हड्डियाँ है तथा नाड़ियों की ग्रन्थियों के रूप में 900 खाइयाँ है। 72 नदियाँ ऐसी है जिसमें मकर, मत्स्य रूपी अहंकारादि का निवास है। शरीर में साड़े तीन करोड़ रोम है जो वनस्पतियों के समान है। पाँच इन्द्रियाँ पाँच कोतवाल है जिनकी एक ही स्त्री है। मनसा। शरीर के पाँच तत्वों में अमृत भी है और विष भी। इस प्रकार सब मिल कर 'प्राण सांकली' कहलाती है। इस प्राण संकली के नियन्त्रण से ही काया का नियन्त्रण होता है। इसी को आत्म परिचय भी कहते हैं। इन पर विजय प्राप्त करने पर बालभाव प्राप्त होता है।

'गोरखबानी' में अनेक स्थानों पर चित्र की योग–मार्ग में प्रवृत करने के लिए ज्ञान को प्राथमिकता दी है। यह ज्ञान गुरु–मुख से ही सहज सम्भव है। ज्ञान से ही विशिष्ट ज्ञान, अर्थात परमपद ज्ञान तत्व ज्ञान होता है।

(4) <u>हठयोग के अंग :</u> जब तक विवेकख्याति नहीं हो जाती तब तक योगांगों के अनुष्ठान से चित्त को विशुद्ध करने का उपदेश शास्त्रंकार ने दिया है। ये आठ है। यम,

नियम, आसन, प्राणयाम, प्रत्याहार तथा ध्यान, धारण और समाधि, प्रथम पाँच ब्रह्मा है। और तीन अन्तर। संक्षेप में इन का परिचय इस प्रकार दिया गया है।

(4–2) <u>यम</u> : यम बाहरी और भीतरी इन्द्रियों के सयंमन (वृत्ति–संकोचन) को कहते हैं। अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरी न करना) ब्रह्माचार्य और अपरिग्रह (किसी से कुछ न लेना) ये पाँच यम है। इन यमों में (संयमों) के विरीत क्रियाओं– हिंसा, असत्य, अस्तेय, तीर्थक्षम, अपरिग्रह को वितर्क कहते हैं। इनका फल दुख और अज्ञान है।

(4–2) <u>नियम :</u> वितर्कों के दमन और संयमों की उपलब्धि के लिए शास्त्रकार ने पाँच प्रकार के नियम बनाए है। शौच (पवित्रता) सन्तोष, तप, व्यायाम और ईश्वर प्राणायाम। ये बातें नाथपंथी हिन्दी रचनाओं के अन्तर्गत भी आती है। एक बात लक्ष्य करने की यह है कि किसी भी प्रकार के आचार नियम का पालन करने के लिए ब्रहमाचार्य वृत अनिवार्य है।

(4–3) <u>आसनः</u> योग साधना के लिए नाना प्रकार के आसन उपयोगी बताये गये है। आसन अर्थात हाथ पैर आदि का विशेष ढंग से सन्निवेश परवर्ती योग ग्रन्थों में आसनों की अनेक संख्यायें बतायी गयी है। परन्तु 'पांतजल दर्शन' ने स्थिर और सुखकर आसन को ही योग साधना का प्रकष्ट उपाय बताया है।

(4–4) <u>प्राणायाम :</u> श्वास को भीतर भरना (पूरक) उसे फिर बाहर निकालना (रोचक) प्राणायम कहा जाता है। प्राण अर्थात वायु के संयमन से मन का संयमन सहज होता है।

(4–5) <u>प्रत्याहार :</u> शब्दादि ब्रह्मा व्यापारों से कान प्रभृति इन्द्रियों को हटाकर (प्रत्याहत करके) पहले अर्न्तमुख करना होता है। उस अवस्था में ब्रह्मा विषयों के साथ इन्द्रियों का कोई सम्पर्क न होने से चित्त का सम्पूर्ण रुप से अनुकरण करते हैं। इन्द्रियों की इस प्रकार की अवस्था का नाम ही 'प्रत्याहार' है। इससे इन्द्रियों को वश में करना सम्भव होता है।[1]

---

1. डॉ0 मनीषा शर्मा, गोरखबानी– परम्परा और काव्यत्व, पृ0 38–45

(4–6) <u>धारणा :</u> प्रत्याहार के समान धारणा सभी अनतः साधन ही है। नाथ योग में साधना का बड़ा महत्व है। इसी के अन्तर्गत कुंडलिनी योग, लय योग तथा षटचक्र–वेधन आदि आते हैं। धारणा ही स्वरूपानुसंधान होता है। नाथ योग के अनुसार सम्पूर्ण संसार की निराकार में धारणा विधेय है। योग ग्रन्थों में उसकी विस्तृत व्याख्या की गयी है।

गोरखबानी में धारणा की शास्त्रीय व्याख्या तो नहीं मिलती परन्तु उसके फलों की विस्तृत चर्चा मिलती है। गोरख के नाम से प्रसिद्ध एक रचना 'अपरचक्र' है जिसमें आठ चक्रों का वर्णन हुआ है।

'गोरखबानी' में आठ चक्रों की चर्चा मिलती है । मणिपरु, अनाद्ध, विशुद्ध, अग्नि, कार्या, सहस्रदल, कमल और सूक्ष्म–यह एक क्रम है। जिसे उहर्व–क्रम कहा जाता है। सामान्य रूप से आठ चक्रकों की स्थिति इस प्रकार है –

सं0	चक्र नाम	कमल के दल	स्थान	श्वास–संख्या
1.	आधार चक्र	4	गुदा	600
2.	दृष्टि चक्र	6	लिंग	600
3.	मणिपुर	10	नाभि	600
4.	अनाद्ध चक्र	12	हृदय	600
5.	विशुद्ध चक्र	16	कंड	1000
6.	अग्नि चक्र	16	नेंम	1000
7.	ज्ञान–चक्र	1000	ब्रह्माण्ड	1000
8.	सूक्ष्म चक्र	21000	विज्ञान[1]	

योग ग्रन्थों में विवेचना विस्तृत रूप से उपलब्ध है। इसलिए उसकी पुनरावृत्ति यहाँ अनावश्यक है। चक्रों की संख्या क्रम स्थान आदि के विषय में इतने

---

1. डॉ0 मनीषा शर्मा, गोरखबानी– परम्परा और काव्यत्त्व, पृ0 47

मतभेद है कि उनके वास्तविक स्वरूप का विवेचन एक बड़ी समस्या है। नाथ साहित्य में भी अनेक मत मतान्तर प्राप्त होते हैं। 'मछीन्द्र गोरखबोध' में छः चक्रों का विस्तार से वर्णन किया गया है। 'गोरखबानी' में भी कई स्थानों पर कुछ भेद के साथ चक्रों की चर्चा हुई है। सन्त साहित्य में सहस्रार सहित सात चक्रों का विस्तार से वर्णन हुआ है 'षट्चक्रनिरूपण' में यह वर्णन मिलता है।

(4–7) <u>ध्यान :</u> धारणा के पश्चात ध्यान का स्थान है। ध्यान धारण की ही परिपक्वव्यव्था है जिसमें ध्याता और ध्येय का पूर्ण तादात्म्य होता है तथा जिसने परमाद्वैत भाव कहा गया है। यह एक भावना है जिसे आत्म स्वरूपास्थित कह सकते हैं। ध्यान परिपक्वस्था ही समाधि है। 'गोरखबानी' में ध्यान के स्थानों का निर्देश है। आज्ञा चक्र में ध्यान करने से मन उन्मन हो जाता है। उस स्थिति को मनोन्मनी स्थिति कहते हैं। 'गोरखबानी' में चक्रों अथवा गाँठों पर ध्यान करने का विधान है। यह ध्यान तान्त्रिकों के ध्यान से भिन्न है। नाथों के ध्यान का विषय स्वयं बोध है। जो अगम–अगोचर, असीम अनन्त और निरंजन है। ध्येय के समान ध्याता भी अलग ही है। गोरखनाथ के अनुसार यह ध्यान सहज स्थिति का है जो हँसते, खेलते, चलते, फिरते लगाया जा सकता है। इस प्रकार के ध्यान में स्थूल विषयों को छोड़कर जगदीश का ध्यान करने का उपदेश 'गोरखबानी' में किया गया है। उस ध्यान को सांसारिक जीवन को दिव्य जीवन में परिवर्तित करना चाहते हैं। परन्तु यह स्थिति योग की सब क्रियाओं के अनन्तर ही प्राप्त होती है।

(4–8) <u>समाधि :</u> षडंग योग में अन्तिम स्थान समाधि का है। समाधि का प्रायः सभी योग शास्त्रों में हुआ है। 'पांतजल योगदर्शन' में तो समाधि का नाम एक अलग ही पाद है जिसमें समाधि के अंगों प्रत्यागों का सूक्ष्म विवेचन हुआ है। हठयोग के ग्रन्थों में भी समाधि का सैद्धान्तिक विवेचन है परन्तु नाथ की वाणी में समाधि का सैद्धान्तिक विवेचन न के बारबर है। नाथ योग के अनुसार समाधि एक अवस्था का नाम है। जिसमें सभी तत्वों की समान स्थिति रहती है तथा आभास और उधम का आभाव रहता है।

इस स्थिति में अद्वैत तत्व की अनुभूति होती है तथा साधकपूर्ण से संकल्प विहिन हो जाता है। प्राण क्षीण हो जाता है तथा मानस का चित्त में लय हो जाता है। इसी को समरसता कहते है। 'हठयोगप्रदीपिका' में समाधि के लिए राजयोग, उन्मती, मनोन्मनी अमरत्व, लय अद्वैत, निरासन, निरंजन, सहसा तुरिया आदि अनेक नामों का व्यवहार किया गया है। 'गोरखबानी' में समाधि शब्द का स्पष्ट व्यवहार नहीं मिलता केवल उतना उल्लेख है कि समाधि की स्थिति चन्द्र चक्र में प्राप्त होती है।

'गोरखबानी' में समाधि शब्द का वर्णन कई रूपों में हुआ है। समाधि परम स्थिति शून्याशून्य होती है। समाधि की दशा में ही निरंजन तादात्म्य सम्भव है। 'गोरखबानी' में निरंजन शब्द का प्रयोग कई बार किया गया है। यह निरंजन शून्य है परमात्मा है। परमसुख है उसकी उपलब्धि तीन लोकों में न होकर पिंड में ही होती है जीवन अंजक में भटक कर निरंजन तत्व को भूल जाता है। योगी अपनी साधना से निरंजन में विलिन हो जाता है। निरंजन शब्द का प्रयोग तीन अर्थों में हुआ है।

(क) माया के संसर्ग से पिंड का निर्माण करने वाला।

(ख) मायातीत ब्रह्म तथा,

(ग) नादरूपा सृष्टि का लय स्थान।

आनन्दों का उपयोग करने के लिए बिन्दु उर्ध्वमुखी कर उन मुद्राओं के उपमुख चक्रों में योग साधना अन्दर श्वाँसनिरोध द्वारा चलती रहती है और बाहर मुद्रा–मैथुन द्वारा तान्त्रिक गुहा साधनाएँ दोनों एक दूसरे का समर्थन करती रहती हैं।

हठयोग द्वारा पवन का निरोध कर मेरुदंड में स्थिति चक्रों का बेधन यह योगाचार की स्वीकृत पद्धति थी। ध्यान द्वारा चित्त में 5 महाभूतों के उदम के उपरान्त साधक के लिए अन्तस्थ चक्रों का ध्यान करने का आदेश था।

श्रेष्ठ समाधि सहज समाधि ही है। इस सहज स्वभाव की सिद्ध हठयोग द्वारा की जाती थी। नाथयोगियों में हठयोग मुख्यतः यह शिव और शक्ति के देहस्थ योग

के रूप में स्वीकृत हुआ है। सन्तों में हमें इस पद्धति के लिए बराबर सहज योग नाम का प्रयोग मिलता है। यद्यपि उसके दो अर्थ है। कहीं–कहीं वह हठयोग की साधना के लिए प्रमुख हुआ है । हठयोग के अर्थ में कतिपय उदाहरण द्रष्टव्य है –

<u>दादू –</u> पंच बाइ ते सहज समावै, सहसहरि के हार असैसूर।
सीतल सदा मिलै सुखदाई, अनहद सबद रजावै तूर।
बकनालि सदा रस पीवै तब यह मनवा कही न जाइ।
बिगसै कंवल प्रेम जब उपजै ब्रह्मा जीव की करै सहाई। 206

एता कीजै आप थे, मन मन उनमनि लाई।
पंच समाधि राखियै, दूजा सहज सुआई।।
सहज जोग सुख में, कहे दाई निर्गण जाणि।
गंगा उलटी फेरी, करि, जमुणा माँह आणि।। 207

<u>भीखा –</u> जोग जुक्ति कै हिंडोलन गुरु सहज लखावत
चाँदै राखि सूर पौठावल पवन डेरि पै हाथल
अर्ध–अर्ध मुख भावंल पुलीक पुलकि छवि भावला।। 208

हठयोग तथा भाव योग के समान्तर ही सहज समाधि का प्रयोग भी सन्तों में योग समाधि तथा भव समाधि– दोनों अर्थों में मिलता है। हठयोग की समाधि के अर्थ में नाथयोगी परम्परा की उन्मनि प्रयुक्त हुई हैं। यह उन्मनि अवस्था हठयोग प्रदिपिका में शून्य और अशून्य से परे अमनस्क (अमनसिकार) की ही अवस्था बतायी गई है और टीका में इसे जल में मिले हुए लक्षण की भाँति आत्मस्थ रूप बताया गया है। नाथपंथी बानियों में भी इसको तत्वसार बताया गया है। "मन पवना लैं उन्मुनि धीखा ते जोगी ततसार।"[1]

नाथयोग तथा तन्त्र योग दोनों ही षटकर्म, प्राणायाम, मुद्रा, आसन, लय, योग ध्यान और समाधि को साधन के रूप में स्वीकार करते हैं। हम नाथ योग को

1. डॉ0 धर्मवीर भारती, सिद्ध साहित्य, पृ0 381

अद्वैतवाद का क्रिया पक्ष भी कह सकते है। नाथ योग की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें बिन्दु रक्षा पर विशेष बल दिया गया है। उनकी साधना के क्रम में तीन बातें उभर कर आती है –

(1) पिंड–ब्रह्माण्ड का एकत्व तथा पिंड का ज्ञान और निमन्त्रण,

(2) ब्रह्मचार्य और बिन्दु रक्षा तथा

(3) भोग में योग।

यह भोग में योग ही नाथ पंथियों की सहज साधना है । नाथों का साध्य शिव तत्व है। 'सिद्धासिद्धान्त संग्रह' में उसकी व्याख्या इस प्रकार है –

अद्वैत केचिदिच्छन्ति द्वैतभिच्छक्ति चापरे।
सम तत्व न विदन्ति द्वैताद्वैत विलक्षणम्।
यदि सर्व गतों देवः सिथ्रः पूर्णोरं निरन्त।
अहो माया महामोहो द्वैताद्वैत विकल्पना।।

नाथ सम्प्रदाय में बाह्माचार तथा रूढ़ियों का विरोध किया है। इसी प्रकार इस सम्प्रदाय में हिंसा का भी प्रमुख रूप से विरोध किया गया है। जिसका नाम शुद्र है। उसे तीर्थों में भटकने की आवश्यकता नहीं है ।

अवधू मन– चंगा तो कठौती ही गंगा।

इसी प्रकार "यंद्री का लड़धड़ा और जिभ्या का फूहड़ा" कभी योगी नहीं हो सकता मन को वशीभूत करने का एकमात्र माध्यम मार्ग का अवलम्बन है।

नाथदर्शन एक व्यवहारिक दर्शन है जिसमें सभी दर्शनों की प्रमुख मान्यताओं का समाहार हुआ है। इस पंथ में कठोर ब्रह्मचर्य के प्रति अवज्ञा, अन्तिरिक शुद्धि तथा महा मांसादि के बहिष्कार पर विशेष बल दिया है।

निष्कर्षतः गोरखनाथ ने जिस संस्कृति को जन्म दिया उसमें उच्चतम मानवीय मूल्य है – ईश्वर की प्राप्ति। ईश्वर की प्राप्ति के लिए दुनिया भर में भटकने के

स्थान पर अन्तरमय की गहराइयों में रमने की सलाह दी गई है क्योंकि गोरखपिंड के ब्रहमाण्ड के प्रति विश्वास करने वाले थे। आन्तिरिक गहराईयों के साक्षात्कार का मार्ग है – योग जिसका मूल तत्व है – संयम। वाक्र, मन, बिन्दु आदि में से किसी एक को संयमित करने पर सभी संयमित हो जाते हैं।

"एक साधै सब साधौ।

गोरखी संस्कृति में मूलतः व्यक्ति पर बल दिया गया है। गुरु गोरखनाथ ने आम जनजीवन को व्यापक और गहन रूप में प्रभावित किया है।

गोरखनाथ ने जातपात, छुआछुत तथा बाहरी आडम्बरों का विरोध किया है। गुरु गोरखनाथ ने कर्मकाण्ड का विरोध भी पूर्ण रूप से किया है। गोरखी संस्कृति के मूल में बौद्ध और सिद्ध तथा शैव परम्पराओं में स्वीकृत प्रज्ञोपाय अथवा कुलाकुल के रूप में संयुक्त के सिद्ध हैं। संपुति (युगनद्वता या सियुजी) के ये बिम्ब मनोवैज्ञानिक दृष्टि से मानव की चिन्तीय अखण्डता है। उसकी सम्पूर्ण व्यक्तिकता के प्रतीक हैं।

मानव चित्त में युगनद्वता के ऐसे बिम्बों का उदय प्रायः चित्तिय द्वन्द्वों के चरम तनाव की स्थिति में होता है संस्कृति का यह पक्ष आधुनिक युग के सन्दर्भ में संभवतः सर्वाधिक सार्थक है।

पश्चिम में तान्त्रिक युगनद्वता का प्रचलन अथवा योगासनों की लोकप्रियता इस एक ही समस्या के दो पहलुओं को रेखाकिंत करता है कि पश्चिम का मानव काम और अध्यात्म में संतुलन चाहता है। हमारे देश में गोरखी संस्कृति का सर्वाधिक महत्व चरित्र की उस दृणता में निहित है जिस पर नाथों ने सर्वाधिक बल दिया है।[1]

---

1. डॉ0 मनीषा शर्मा, गोरखबानी– परम्परा और काव्यत्व, पृ0 52–54

अध्याय : 2

गोरखबानी का स्वरूप

हिन्दी साहित्य के इतिहास में गुरु गोरखनाथ की रचनाओं को एक विशेष महत्व का स्थान प्राप्त है। इनके पदों व सबदियों की रचना का समय बौद्ध सिद्धों के प्राचीन दोहें व चर्यागीतों के प्रायः पीछे तथा सन्तों के शब्दों एवं साखियों के बहुत पहले आता है। तद्नुसार यदि आज तक की इन सभी उपलब्ध रचनाओं का एक साथ तुलनात्मक अध्ययन कर उस पर विचार किया जाए तो इनके विषय, भाषा व रचना शैली में एक विचित्र साम्य दीख पड़ेगा और जान पड़ेगा कि लगभग एक ही प्रकार की विचारधारा और परम्परा का क्रमिक विकास बहुत काल तक निरन्तर होता आया। उदाहरण के लिए मनोमरण व चित्तशुद्धि सहजभाव व सहजानुभूति, विंडबना विरोध व स्वपदवादिता की झलक प्रायः सर्वत्र एक सी दीख पड़ती है। साथ ही रूपकों व उलटवासियों द्वारा उपदेशों व सिद्धान्तों के स्पष्टीकरण का निराला ढंग भी बराबर लक्षित होता रहता है इसके सिवाय कबीर साहब आदि कई संत गुरु गोरखनाथ के प्रति न्यूनाधिक श्रृद्धा प्रदर्शित करते हुए भी जान पड़ते हैं। उन्होंने कई स्थलों पर इसके भावों, शब्दों व वाक्यांशों तक को ज्यों का त्यों अपनाया है।

'गोरखबानी' में संग्रहित रचनाओं के अन्तर्गत नाथ पंथ के प्रायः मुख्य मुख्य सिद्धान्तों की वानगी देखने को मिलती है।

'गोरखबानी' में संग्रहित सभी रचनाएँ संभवतः गुरु गोरखनाथ की कृति नहीं है। इनमें से कुछ एक में दूसरों के नाम स्पष्ट रूप में आये हैं और कई एक की बहुत सी अन्य बातों के कारण भी सहसा उनकी रचना मान लेना उचित नहीं जान पड़ता। फिर

भी इतना निश्चित है कि ऐसी रचनाएँ उनके अनुयायियों की ही हो सकती है। विद्वान सम्पादक ने इन रचनाओं को कम से कम आधे दर्जन से अधिक प्रतियों का मिलान कर अनेक पाठ भेदों के साथ प्रकाशित कराया है और उनका अनुवाद करते अथवा उन पर यथास्थल टिप्पणी देते समय किन्ही संस्कृत वा प्राचीन हिन्दी टीकाओं से भी थोड़ी बहुत सहायता ली है। संग्रह में पंथों व सवदियों के अतिरिक्त एक दर्जन छोटे–छोटे फुटकर ग्रन्थ भी आ गये है जिनमें से दो की रचना गद्य में हुई है। 'गोरखबानी' विषय, भाषा, शैली आदि अनेक दृष्टियों से अध्ययन से उपयुक्त एक महत्वपूर्ण संग्रह है।

गोरखबानी के संग्रह तथा रचनाएं हिन्दी तथा संस्कृत दोनो भाषाओं में प्राप्त होते हैं:

1. संस्कृत साहित्य

मत्स्येन्द्रनाथ अथवा मीनानाथ की रचनाओं में डा0 बागची के अनुसार 'कोलज्ञाननिर्णय', 'अकुल वीर तन्त्र' (ए) तथा (बी), 'कुलानन्दतन्त्र' तथा 'ज्ञानिकारिका' का उल्लेख मिलता है। 'कौलज्ञान निर्णय' एक अत्यधिक महत्वपूर्ण ग्रंथ है। इसमें जिन विषयों की सविस्तार चर्चा हुई है उन्हें संक्षेप में इस प्रकार रखा जा सकता है – सृष्टि प्रलय, मानस लिंग का मानसोपचार से पूजन, निग्रह, अनुग्रह–क्रामण–हरण, प्रतिमा जपन, षट पाषण स्फोटन आदि सिद्धियॉ; भ्रांति–निरसन ज्ञान, जीवन–स्वरूप, जरा–मरण, पलित का निवारण, अकुल से कुल की उत्पत्ति तथा कुल का पूजनादि, गुरु–पंक्ति, सिद्ध–पंक्ति और योगिनी– पंक्ति, चक्र–ध्यान, अद्वैत–चर्चा, पात्र–चर्चा, न्याय–विधि, शीघ्र सिद्धि देने वाली ध्यान मुद्रा, महाप्रलय के समय भैरव की आत्म–रक्षा, भक्ष्य विधान तथा कौलज्ञान का अवतारण, आत्मवाद, सिद्ध पूजन और कुलदीप विज्ञान, देहस्थ चइस्थिता देवियॉ, कपाल–स्भेद, कौलमार्ग का विस्तार, येगिनी–संचार और देहस्थ सिद्धों की पूजा।

'अकुल वीर तंत्र' की रचना वास्तव में उनके लिए हुई है जो अद्वैत का

ज्ञान प्राप्त कर चुके हैं। इस ग्रंथ के प्रकाश में अद्वैत ज्ञान की प्राप्ति के पश्चात समाधि, प्राणायाम, ध्यान, धारणा आदि की अपेक्षा नहीं रहती। साधक स्वयं ही ध्यान और ध्याता बन जाता है और समस्त द्वन्द्वों से रहित हो जाता है।

डॉ० कल्याणी मल्लिक ने मत्स्येन्द्र–कृत 'योग विषय' नामक ग्रंथ का भी संपादन किया है जिसकी पांडुलिपि उन्हें तिरूपति, मद्रास से प्राप्त हुई थी। ग्रंथ के प्रारम्भ में गुरु के गुणों का संकेत करते हुए उसे भावनातीत कहा गया है। शिष्य को अपने गुरु में पूर्ण आस्था होनी चाहिए। गुरु और शिष्य के बीच जब मतभेद समाप्त हो जाते हैं तो उस समय दोनों के बीच के सम्बन्धों को समसिद्धि से अभिहित करते हैं।

मत्स्येन्द्र के अनुसार कौल को शरीर–स्थित षट्–चक्रों का पूर्ण ज्ञान होता है। निरंजन का स्थान चक्रातीत होता है।

ग्रंथ में मुख्य नाड़ियों की चर्चा की गयी है और कहा गया है कि ओम्कार की अ, उ तथा म् ध्वनियों के उच्चारण से सत्य का ज्ञान होता है और ब्रह्मा, विष्णु तथा रूद्र की ग्रंथियाँ टूट जाती हैं।

ग्रंथकार की दृष्टि में जिस समय ब्रह्म–स्थान में नाद सुनायी पड़ता है तो शंखिनी नाड़ी अमृत की वर्षा करने लगती है जिससे षट–चक्र घुलकर शुद्ध हो हाते हैं और ज्ञान की दीपशिखा प्रज्जवलित हो जाती है। ज्ञान की इस दीप–शिखा से कोई भी ईश्वर को जान सकता है। ईश्वर को स्वयं में ही जानना चाहिए। कारण यह है कि रूप–रहित ईश्वर सभी रूपों में विद्यमान है।

डॉ० कल्याणी ने मत्स्येन्द्र लिखित दो अन्य ग्रंथों– 'तत्वसार' और 'ज्ञानसार'– का भी पता लगाया था। ये ग्रंथ डॉ० बेलगकर को राज्यगुरु पं० हेमराज के पुस्तकालय में नेवाड़ी लिपि में लिखे हुए मिले थे, किन्तु इन्हें किसी प्रकार प्राप्त न किया जा सका। फलस्वरूप ये अभी तक प्रकाश में नहीं आ सके हैं।

मत्स्येन्द्रनाथ जी के पश्चात द्वितीय महत्वपूर्ण नाम गोरखनाथ का है।

गोरखनाथ की रचनाओं का संकेत सर्वप्रथम मिश्र बन्धुओं ने किया। उनके अनुसार 'गोरक्षशतक' (ज्ञान शतक), चतुरशीत्यासन 'ज्ञानामृत', 'योग चिन्तामणि',, 'योग मार्तण्ड', 'योग सिद्धान्त पद्धति', 'विवेक मार्तण्ड' तथा 'सिद्ध–सिद्धान्त पद्धति' ग्रंथ गोरखनाथ कृत हैं।

आचार्य शुक्ल ने इनके अतिरिक्त 'शक्तिसंगत तंत्र', 'निरंजन पुराण', तथा 'वैराट पुराण' की गणना भी गोरख–रचित ग्रंथों में की है। ब्रिग्स ने 'गोरख शतक' को गोरखकृत सर्वाधिक प्रामाणिक रचना स्वीकार किया और 'रूद्रयागाम तंत्र', 'विष्णुसहस्त्रनाम' आदि को भी उनके द्वारा रचित होने का संकेत किया है।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने गोरख–रचित तथाकथित ग्रंथों में उपर्युक्त के अतिरिक्त 'अमनस्क', 'अमरोध शासनम्', 'अवधूत गीता', 'गोरख–कौमुदी', 'गोरखगीत', 'गोरखपंचम', 'गोरखपद्धति', 'गोरखसंहिता', 'ज्ञानामृत योग', 'नाडद्यीज्ञान–प्रदीपिका', 'महार्थमंजरी', 'योगीज', 'योगसिद्धान्त पद्धति', 'श्रीनाथ सूत्र', 'हठ संहिता', आदि ग्रंथों के नामों का उल्लेख किया है।

डॉ0 कल्याणी मल्लिक ने गोरख–रचित 'सिद्ध–सिद्धान्त पद्धति', 'अमरोध प्रबोध', तथा 'योग मार्तण्ड', का सम्पादन किया है और 'सिद्ध–सिद्धान्त पद्धति', को गोरख की एक महत्वपूर्ण रचना स्वीकार किया है। वस्तुतः 'सिद्ध–सिद्धान्त पद्धति', को ही आधार मानकर 'सिद्ध–सिद्धान्त संग्रह', और 'गोरख सिद्धान्त संग्रह ', जैसे ग्रंथों की रचना हुई है। डॉ0 गोपीनाथ कविराज ने 'गोरख–सिद्धांत संग्रह', तथा 'सिद्ध–सिद्धांत संग्रह', –दोनों ही ग्रंथों का सम्पादन किया।

ब्रिग्स ने 'गोरख शतक', की प्रामाणिकता के पक्ष में अनेक तर्क दिये हैं। उनका विचार है कि 'ज्ञान शतक', और 'ज्ञान–प्रकाश शतक' को 'गोरख शतक', से भिन्न नहीं मानना चाहिए। वे हिन्दी ग्रंथ 'गोरख पद्धति' को 'गोरख कल्प' नामक ग्रंथ के अनुवाद के रूप में मान्यता देते हैं और उसके दो शतकों में से प्रथम को 'गोरख शतक',

'गोरख ज्ञान', 'गोरख प्रकाश शतक', और 'ज्ञान शतक', आदि अनेक नामों से प्रचलित मानते हैं। उनकी दृष्टि से 'गोरख शतक टीका', 'गोरख शतक टिप्पणी', और 'सिद्धान्त पद्धति', नामक ग्रंथ वास्त में 'गोरख शतक', के ही भाष्य हैं और 'गोरख शतक', ही नाथ–संप्रदाय का मूल ग्रंथ है।

डॉ0 नगेन्द्रनाथ उपाध्याय ने इस प्रसंग में अनेक प्रमाणों के प्रकाश में यह मान्यता स्थापित की है कि 'गोरख पद्धति', के प्रथम अथवा द्वितीय शतक गोरख–नाथ की मूल रचना नहीं है। उन्होंने यह अवश्य स्वीकार किया है कि 'गोरख शतक' को परवर्ती नाथ–योगियों ने इतना आवश्यक और महत्वपूर्ण ग्रंथ समझा कि वे लोग उस पर अनेक भाष्य, टीका, व्याख्या आदि के ग्रंथ लिखते रहे। डॉ0 उपाध्याय ने गोरखनाथ के संस्कृत ग्रंथों में 'सिद्ध–सिद्धांत पद्धति' और 'गोरख संहिता' को प्रामाणिक और महत्वपूर्ण ग्रंथ माना है। इनके अतिरिक्त वे 'अमरौध शासनम्' तथा 'महार्थ मंजरी' को क्रमशः साधना तथा दर्शन की दृष्टि से महत्वपूर्ण ग्रंथ मानते हैं।

'गोरख संहिता' का प्रकाशन सर्वप्रथम प्रसन्न कुमार कविरत्न के प्रयास से सं0 1897 में हुआ। तदुपरान्त अहमदाबाद से श्री इन्द्रजी शर्मा द्वारा सं0 1950 में यह ग्रंथ पुनः प्रकाशित हुआ। 'गोरख पद्धति' में इस ग्रंथ के अनेक स्थलों पर उल्लेख आये हैं। 'अकुल वीर तंत्र के कितने ही श्लोक इस पुस्तक में हू–ब–हू मिल जाते हैं। इस दृष्टि से आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इसे काफी महत्वपूर्ण माना है। 'सिद्ध–सिद्धांतपद्धति' का प्रकाश नाथ ब्रह्माचर्याश्रम, हरिद्वार तथा पूना ओरियण्टल हाउस से हुआ है। इस ग्रंथ में कुल छह अध्याय हैं जिनमें उपदेश कहा गया है। प्रथम उपदेश में पिंड की उत्पत्ति बतायी गयी है, द्वितीय उपदेश में पिंड पर विचार किया गया है, तृतीय उपदेश पिंड–संवित्ति से सम्बद्ध है, चतुर्थ उपदेश में पिंड के आधार की चर्चा की गयी है, पॉचवें उपदेश में सर्वशक्तिमान सत्ता के साथ पिंड के एकमेक होने की अवस्था का विवेचन किया गया है और छठे उपदेश में अवधूत योगी के लक्षण बताये गये हैं। इस प्रकार अपने

विषय की दृष्टि से 'सिद्ध–सिद्धांतपद्धति' एक अत्याधिक महत्वपूर्ण रचना है।

'अमरोधशासनम्' का संपादन पं0 मुकुंदराम शास्त्री ने किया, जिसे काश्मीर सीरीज ऑफ टैक्स्ट ऐंड स्टडीज ने 1918 में बम्बई से प्रकाशित किया; 'महार्थ मंजरी' गोरखटिल्ला, वाराणसी से योग प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित हुआ।

डॉ0 कल्याणी मल्लिक ने 'अमरोध प्रबोध', की पांडुलिपि तिरूपति, मद्रास से प्राप्त करके लय– योग, हठ–योग, मंत्र–योग तथा राज–योग का दार्शनिक विवेचन करने वाले इस महत्वपूर्ण ग्रंथ का संपादन और प्रकाशन किया। योग–साधना में सर्वोच्च स्थान राज–योग का माना गया है। इस ग्रंथ में विशेष रूप से इस पक्ष पर विचार किया गया है कि मनुष्य कि प्रकार से राज–योग की प्राप्ति कर सकता है। राज–योग के अभाव में देह–सिद्धि प्राप्त नहीं की जा सकती। बड़े–से–बड़ा चिकित्सक भी किसी को मृत्यु से नहीं बचा सकता। समय की अपेक्षा आत्मा कहीं अधिक श्रेष्ठ और शक्तिवान है। बिन्दु और नाद ही दो ऐसी औषधियाँ हैं जो प्रत्येक शरीर में विद्यमान हैं। जिसने गुरु से इनका ज्ञान नहीं प्राप्त किया उसे निश्चय ही मृत्यु का सामना करना है –

बिन्दुनादों महौषध्यों विद्यते सर्वजन्तुषु।
ताव विज्ञाय सर्वे पि म्रियन्ते गुरुवर्जिताः।।

वस्तुतः केवल एक ही अमरौध है जिसे राजयोग कहते हैं। अमरौध को प्राप्त करके ही काल पर विजय प्राप्त की जा सकती है और शिव के समान हुआ जा सकता है। इस सिद्धि की प्राप्ति दस महीने के अल्प समय में हो सकती है। इसकी प्राप्ति के पश्चात् चित् और अचित् का भेद समाप्त हो जाता है और योगी जीवन मुक्त हो जाता है।

डॉ0 मल्लिक द्वारा सम्पादित 'योग मार्तण्ड' भी गोरख–कृत एक महत्वपूर्ण ग्रंथ है जिसे तुलगु से देवनागरी में लिप्यांतरित किया गया है। गुरु की स्तुति के पश्चात इसमें योग की परिभाषा दी गयी है जिसे श्रुति के फल के रूप में स्वीकार किया गया है।

इसमें योग के षट्–अंगों का उल्लेख करते हुए सिद्धासन तथा पद्मासन को सर्वश्रेष्ठ माना गया है और उनका विस्तृत विवेचन हुआ है। इसके द्वारा षट–विकारों तथा रोगों का विनाश हो जाता है।

2. <u>हिन्दी साहित्य</u>

नाथ–पंथी सिद्धों की हिन्दी रचनाओं के संपादन का कार्य बहुत ही कष्टसाध्य है। इनकी रचनाओं का व्यवस्थित संपादन डॉ0 पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल के प्रयास से सर्वप्रथम 1942 में हुआ जो 'गोरखबानी' के नाम से प्रकाश में आया। डॉ0 बड़थ्वाल ने नाथ–योगियों की रचनाओं को दो भागों में व्यवस्थित किया था। प्रथम भाग में गोरखनाथ की रचनाएँ संगृहीत की गयीं और द्वितीय में अन्य नाथ–योगियों की। द्वितीय भाग के प्रकाशन से पूर्व ही डॉ0 बड़थ्वाल का निधन हो गया। फलस्वरूप यह अंश आज भी अप्रकाशित है।

इस दिशा में संपादन का दूसरा महत्वपूर्ण कार्य डॉ0 कल्याणी मल्लिक ने 'सिद्ध–सिद्धान्त पद्धति ऐंड अदर वर्क्स ऑफ द नाथ योगीज' नामक संकलन के प्रकाशन से 1954 ई0 में किया। इस संकलन के प्रकाशित हो जाने से नाथ–योगियों की कुछ ऐसी रचनाओं का पता चला जिनका उल्लेख कहीं भी नहीं मिलता था। 'गोरख उपनिषद्', 'मत्स्येन्द्र जी का पद', 'भरथरी जी की सबदी' तथा 'गोपीचंद्र जी की सबदी' ऐसी ही कृतियाँ हैं जो पहली बार डॉ0 मल्लिक के प्रयास से प्रकाश में आयीं।

नाथ पंथी हिन्दी रचनाओं का तीसरा और अभी तक अंतिम संग्रह डॉ0 हजारीप्रसाद द्विवेदी द्वारा 1957में 'नाथ सिद्धों की वानियाँ' के नाम से प्रकाश में आया। बहुत अंशों तक इसने उस कमी को पूरा कर दिया जो 'गोरखबानी', के द्वितीय खंड के अप्रकाशित रह जाने के कारण बनी हुई थी। इस संग्रह–ग्रंथ में जिन नाथ–योगियों की रचनाओं को स्थान मिला है उनके नाम इस प्रकार हैं – (1) अजय पाल जी, (2) काणेरी (सती पाव), (3) गरीब जी (4) गोपीचन्द्र जी (5) घोड़ा चोली (6) चरपटनाथ (7)

चौरंगीनाथ (8) चौणकनाथ (चुणकर नाथ) (9) जलन्धी पाव (10) दत्त जी (दत्तात्रेय) (11) देवल जी (12) धूँधलीमल जी (13) नाम अर्जन जी (14) पार्वती जी (15) पृथ्वीनाथ जी (16) बालनाथ जी (17) बाल गुँदाई (18) भरथरी (19) मच्छेन्द्रनाथ जी (20) महादेव जी (21) रामचन्द्र जी (22) लक्ष्मण जी (24) सतवंती जी (24) मुकुल हंस जी तथा (25) हणवन्त जी।

उपर्युक्त तालिका में पार्वती जी, महादेव जी तथा रामचंद्र जी वास्तव में नाथ योगियों के नाम प्रतीत नहीं होते हैं। इन्हें पौराणिक समझना ही अधिक उपयुक्त होगा। स्वयं हजारी प्रसाद जी ने लिखा है कि इनमें महादेवी, पार्वती और रामचन्द्र जी के नाम से प्राप्त रचनाओं के वास्तविक रचयिता कौन हैं, यह कहना कठिन है।

डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी ने अपने संकलन में तेईस नाथ–सिद्धों का सक्षिप्त परिचय भी प्रस्तुत किया है। उन्हांने संकलन की रचनाओं में से अधिकांश को 14 वीं शताब्दी से पहले की माना है। नाथ–सम्प्रदाय में सबसे अधिक रचनाएँ गोरखनाथ के नाम से प्रसिद्ध हैं। यह कहना कठिन है कि उन रचनाओं की प्रामाणिकता कितनी है। परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि गोरखनाथ जैसे दिव्य–द्रष्टा महापुरुष ने अवश्य ही लोक–भाषा को अपने उद्देश्यों की अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया होगा। गोरखनाथ की हिन्दी रचनाओं के सम्बन्ध में अब तक जितने ग्रंथ प्रकाश में आये हैं, उनमें सर्वाधिक प्रामाणिक कार्य डॉ0 पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल का ही है। उन्होंने चालीस हिन्दी ग्रंथों का उल्लेख 'गोरखबानी' की भूमिका में किया है। उन्हीं की पुनरावृत्ति परवर्ती आलोचकों ने की है। इस दृष्टि से 'गोरखबानी' को ही प्रामणिक संकलन कहा जा सकता है। डॉ0 बड़थ्वाल ने गोरखनाथ जी के नाम से प्रसिद्ध प्रत्येक रचना का लिपि–काल भी दिया है। डॉ0 बड़थ्वाल ने चालीस रचनाओं में से प्रथम चौदह को अधिक प्राचीन माना है। संकलन के समय 'ज्ञान चौतीसा' उपलब्ध न होने के कारण उन्होंने केवल तेरह रचनाओं को ही अपने संकलन में स्थान दिया है। इनके अतिरिक्त संकलन में परिष्टि 1 और 2 के रूप

में कुछ रचनाओं का संकलन किया गया है। परिशिष्ट 3 में सत्ताइस पदों को प्रस्तुत किया गया है, जिनको डॉ0 बड़थ्वाल ने निरंजनी साधु द्वारा रचित माना है।[1]

नाथ योगियों की बनियाँ कई हस्तलिखितत प्रतियों में मिलती है। इन सब प्रतियों के द्वारा अब तक गोरखनाथ के नाम से 'गोरखबानी' में चालीस छोटी–मोटी रचनाओं का पता चला है। (1) सब्दी, (2) पद, (3) शिष्यादरसन, (4) प्राण सांकली, (5) नरवैबोध, (6) आत्मबोध, (7) अभैमात्रा जोग, (8) पन्द्रह तिथि, (9) सप्तवार, (10) मछीन्द्र गोरखबोध, (11) रोमावली, (12) ग्यान तिलक, (13) ग्यान चौतीसा, (14) पंचमाला, (15) गोरख गणेष गोष्ठी, (16) गोरख दत्तगोष्ठी, (17) महादेव गोरख गुष्टि, (18) शिष्ट पुरान, (19) दया बोध, (20) जाती भौंरावली, (21) नवग्रह, (22)नवरात्र, (23) अष्ट पारध्या, (24) रहरासि, (25) ग्यान माला, (26) आत्मबोध, (27) वृत, (28) निरंजन पुराण तथा (29) गोरखवचन।

'गोरखबानी' के स्वरूप पर निम्नलिखित रूप में विचार किया जा सकता है–

(क) मूल ग्रन्थ तथा (ख) परिशिष्ट।

<u>मूल ग्रन्थ</u>

मूल 'गोरखबानी' में जिन शीर्षकों से छन्दों का संकलन है, वे निम्नलिखित है – (1) सबदी, (2) पद (राग सामग्री), (3) सिष्या दरसन, (4) प्राण संकलि, (5) नरवै बोध, (6) आत्मबोध, (7) अभैमात्रा जोग, (8) पंद्रह तिथि, (9) सप्तबार, (10) मछीन्द्र गोरखबोध, (11) रोमावली, (12) ग्यान तिलक तथा (13) पंचमाला।

'गोरखबानी' में तीन परिशिष्ट है, जिनका विवरण निम्नवत है –

परिशिष्ट (क) – (क)(1) गोरख–गणेष गोष्ठी, (क)(2) ज्ञान दीप बोध (गोरखदत्त गुष्टि), (क)(13) ङ्महादेव–गोरख–गुष्टि, (क)(4) सिष्ट पुराण, (क)(5) दया बोध, तथा

---

1. डॉ0 मनीषा शर्मा, गोरखबानी परम्परा और काव्यत्व, पृ0 56 से 61

(क)(6) कुछ पद।

परिशिष्ट (ख) – (ख)(1) सप्तवार नवग्रह, (ख)(2) व्रत, (ख)(3) पंच अग्नि, (ख)(4) अष्ट मुद्रा, (ख)(5) चौबीस सिद्धि, (ख)(6) बतीस लखन, (ख)(7) अष्ट चक्र तथा (ख)(8) रह राशि।

परिशिष्ट (ग) – सुन्दर तिलक।

मूल ग्रंथ में प्रस्तुत छन्दों का विस्तृत विवरण इस प्रकार है –

(1) <u>सबदी</u> – 'गोरखबानी' में कुल 275 सबदियाँ है। सबदियों की कई कोटियाँ है। (क) सामान्य तत्वों और योगविषयक सिद्धांतों के विवेचन करने वाली, (ख) वैराग्यपरक और (ग) मिश्रित।

सबदियों का सामान्य विषय वैराग्य और उपदेश ही है। इसलिए उनमें कोई विभाजक रेखा नहीं खींची जा सकती। असल बात तो यह है कि लगभग एक तिहाई सबदियों में तत्व– कथन हुआ है तथा दो तिहाई सबदियों में आचरण का उपदेश है। तत्व–कथन की सबदियों में वैराग्य की भावना ही प्रधान है तथा उपदेश प्रधान सबदियों में उपदेशात्मकता। एक बात यह भी लक्ष्य करने की है कि सबदी साहित्य श्रुति–परम्परा से सुरक्षित रहा है और गुरु–वाक्य के रूप में इसे आप्त समझा जाता रहा है। शायद इन्हें लिपिबद्ध बाद में किया गया है इसलिए उनमें अन्य सिद्धों की सबदियों का भी सम्मिश्रण हो गया है। इसलिए यह कहना कठिन है कि कौन सी सबदियाँ गोरखकृत है तथा किन सबदियों में गोरख की मान्यताओं का प्रतिपादन हुआ है।

यहाँ सबदियों पर विचार करना असंगत न होगा कुछ सबदियों में 'श्री' का प्रयोग हुआ है तथा कुछ सबदियों में सम्बोधनवाचक शब्दों का प्रयोग हुआ है। श्री, संयुक्त सबदियाँ गोरखकृत नहीं हो सकती। पृ0 31 पर 87 संख्या की सबदी में 'देवल' को सम्बोधित किया गया है– "सुनो हे देवल तजौ जंजाल देवल नाथ' गोरखनाथ के परवर्ती है। कुछ ऐसी सबदियाँ भी हैं जिनमें गोरख को विष्णु आदि से भी श्रेष्ठ बताया

गया है (सबदी संख्या 101, 130, 192, 199, 200) गोरख को साक्षी देकर तो अनेक सबदियों में उनके सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है। अनेक सबदियाँ ऐसी भी है जिनमें मौहम्मद तथा इस्लाम की चर्चा की गयी है। (सबदी संख्या 6, 9, 10, 11, 14, 62, 225, 236)। कुछ सबदियों में गोरखनाथ तथा मीननाथ की व्याख्या का विवेचन है इसलिए 'गोरखबानी' में संग्रहीत सबदियों की प्रामाणिकता पर प्रश्न वाचक चिन्ह लगा हुआ है।

सबदियों में षंडग–योग की सबसे अधिक चर्चा है परन्तु यह चर्चा संकेत रुप में ही है। मन और शरीर की विशेषावस्था का तो उल्लेख है ही, मुद्राओं में खेचरी, अमरौली और विजरौली की विशेष चर्चा हुई है। मन और पवन को अधिक महत्व दिया गया है तथा परमतत्व का विस्तृत विवेचन है, आचार–व्यवहार पर भी विशेष बल दिया गया है। ऐसा लगता है कि सबदियों के माध्यम से गोरख योगी को सम्बोधित कर रहे है। जन–समाज के लिए उनका अधिक प्रयोजन नहीं है।

(2) पद–

गोरख का पद–साहित्य बड़ा महत्वपूर्ण है। वास्तव में पद–साहित्य का प्रारम्भिक रूप सिद्ध और नाथ साहित्य में उपलब्ध होता है। 'गोरखबानी' में 62 पदों का संकलन है, अन्तिम दो पद गुरु की आरती के रूप में प्रस्तुत किये गये है। पदों और रूपकों और प्रतीकों का बहुत अधिक प्रयोग हुआ है। गोरख का पद–साहित्य उच्चकोटि का है क्योंकि उसमें लोक–पक्ष तथा व्यक्ति–पक्ष, भाव–पक्ष तथा नीति–पक्ष, उपदेश तथा आत्मानुभूति, सभी का समावेश है। कुछ ऐसे भी पद है जिन्हें नीति के पद कहा जा सकता है, जैसे– 9, 13, 22, 31, 33, 34, 35, 38, 44, 48, 49, 50, 52, 58. शुद्ध हठ–योग–साधना के पद अधिक नहीं है। इस प्रकार के पद निम्नलिखित है– 18, 19, 36, 37, 47, 54, 59, 60. पदों की प्रामाणिकता के सन्दर्भ में यहाँ भी वही बात लागू होती है जो किये गये है उनमें रूपक तथा प्रतीकों की छठा अद्‌भुत है। उदाहरण के लिए 13,

17, 18, 27, 40 आदि पदों को लिया जा सकता है। उनके पदों के प्रमुख विषय है – माया का विरोध, पुस्तकी ज्ञान का विरोध, रूड़ियों का विरोध, चक्र साधना, कुंडलिनी–प्रबोध तथा नाड़ी–साधन आदि।

(3) <u>सिष्या दरसन –</u>

'सिष्या दरसन' शिक्षा दर्शन का ही अपभ्रंश रूप है। इसमें गोरखनाथ की शिक्षा तथा सार प्रस्तुत किया गया है। यह उपविषय–शैली में लिखा गया है। परन्तु ऐसा लगता है कि यह खंडित है। 'ओम्' से प्रारम्भ करके सृष्टि की उत्पत्ति की प्रतिक्रिया 'सिष्या दरसन' में बतायी गयी है। अविगत ब्रह्मा से ओम की उत्पत्ति होती है, ओम से आकाश, आकाश से वायु की, वायु से तेज की, तेज से जल की। इसके पश्चात पाँच तत्वों के स्वरूप का वर्णन किया गया है तथा अनेक मुद्राओं जैसे– मूचरी, सेचरी, चाचरी, अगोचरी और उन्मनी की चर्चा की है। इसके अनन्तर अजया जाप, इन्द्रिय–निग्रह और सहजावस्था का वर्णन करते हुए योग–साधना के तत्व पर विचार किया गया है। अमृत–स्राव, अनाहद नाद और गुरु वचन को विशेष महत्व दिया गया है। अन्त में नाथ–योग के सिद्धान्तों को संक्षेप में प्रस्तुत करते हुए कहा गया है कि नव द्वारों पर नियंत्रण करने से ही परम–पथ की प्राप्ति हो सकती है तथा नाथ–योग में ही षड़–दर्शनों का सार है।

(4) <u>प्राण संकलि –</u>

प्राण की श्रृखंला को ही प्राण संकलि कहा है। नाथ सम्प्रदाय में इसे शरीर विचार ग्रंथ कहते हैं। इस ग्रंथ की प्रमाणिकता में भी संदेह हैं। इसमें कुल 16 पद है। इसमें पिंड की रचना का सुन्दर वर्णन हुआ है। पिंड में 13 प्रामाणिक फाटक बताये गये है जिनमें 10 प्रकट है और तीन गुप्त है। शरीर में 72 हजार नाड़ियाँ है जिनमें 72 श्रेष्ठ है और उनमें 10 उत्तम हैं जो योग के लिए उपयोगी हैं। सुषुम्ना सबसे महत्वपूर्ण और केन्द्रीय नाड़ी है। 50 दल वाले षट् चक्र है, 360 हड्डियाँ हैं, अनंन्त रोम–कूप हैं।

षट–चक्र शरीर की नाड़ियों की गुत्थियाँ हैं। सर्वत्र अनाहद नाद भरा हुआ है। शिव का वास आकाश मंडल में है जिसकी प्राप्ति इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना की साधना से होती है। गुरु की कृपा से ही शिवत्व की प्राप्ति सम्भव है। अन्त में गुरु का स्मरण करते हुए कहा गया है – 'ओम् नमो शिवाय, गुरु मच्छिन्द्रानाथ''। यह सब वर्णन बड़े आलंकारिक रूप से हुआ है।

(5) <u>नरवैबोध –</u>

नरवै बोध का अर्थ है – राजा को बोध। ऐसा प्रतीत होता है कि इसकी रचना किसी राजा को बोध देने के लिए हुई थी। ग्रंथ के प्रारम्भ में ही कहा गया है –

''सुणो हो नरवै सुधि का विचार।
पंच तत से उतराना संकल संसार।।
पहले आरंभ हाट परचा करो निसपती।
नरवै बोध कथत श्री गौरखं जती।।

संभव है, राजा से अभिप्रायः भर्तृहरि हो। इस ग्रंथ के आरम्भ में पंच–तत्वों से संसार की उत्पत्ति बतायी है और तदनन्तर योग साधना की विभिन्न अवस्थाओं का वर्णन है। आरंभ घट, परिचय और निष्पत्ति। उसके पश्चात उन अवस्थाओं की प्राप्ति के साधन बताये गये है। नरवै बोध में कुल मिला कर 14 पद हैं। आठवे पद से 14 वें पद तक सहज साधना का उपदेश है।

टूटे पवना छीजै काया, आंसण पिण्ड करि पैसो राया।
तीरथ बर्त कदै जिनि करो। गिर परवताँ चीढ़ प्रान मति हरौ।।

\+ + +

नारी सारी कींगुरी। तीन्यू सत गुरु परहरी
आरंभ घट परचै निसपती। नरवै बोध कथत श्री गोरषजी।।

(6) आत्मबोध –

इस ग्रंथ में सूत्र शैली में नाथ–योग–साधना का उपदेश दिया गया है। पहले ही पद में नाथ–साधना का सूत्र प्रस्तुत किया गया है –

ओम आसण करि पयम आसण बंधि
पिछले आसण पवनां संधि।

मन मुघवे लावे ताली। गगन सिषर में होई उजाली। आगे योग–साधना की विभिन्न कोटियों तथा सोपानों का वर्णन हुआ है। अन्त में आत्मैक्स की ओर संकेत करते हुए ग्रंथ में कहा गया है –

एक पुरिण बहुभाँति नारी। सरव निरन्तर आत्म सारी।
साख निरन्तर भूरि भेरि रहिया। आत्मा बोध सपूरण कहिया।।

इस प्रकार ग्रंथ में कुल 22 पद हैं।

(7) अभैमात्रा जोग –

यह भी एक सूत्रबद्ध उपदेश है जिसमें योगी के ब्रह्मा और आभ्यन्तर को प्रतीकों द्वारा स्पष्ट किया गया है। यह रचना एक ही गद्यात्मक पद में है।

इसमें संयम, कोपनि, मरजादा, पेषली, जगोरा जुगति, साँचमुद्रा, सील कथा आदि सभी ब्रह्मा उपादानों का परिगणन हुआ है। अन्त में सबकों निःसार बताते हुए स्पष्ट कह दिया गया है –

सार मात्रा तत सार/ अलष निरंजन निराकार।
कथत श्री गोरखनाथ जोगी। सत–सत भाषंत बाबा मच्छिन्द्र असावे।।

(8) पन्द्रह तिथि –

तिथियों, वारों तथा मासों के माध्यम से सम्प्रदाय–विशेष की मान्यताओं का विवेचन भारतीय साहित्य में परम्परागत है। इस ग्रंथ में भी पन्द्रह तिथियों के अनुसार

नाथ–योग–साधना का विवेचन हुआ है। प्रारम्भ अमावस्या से किया गया है –

अमावस दिढ़ आसण होई। आतम परचै मरे न कोई।

ग्रंथ का अन्त पूर्णिमा से हुआ है –

पून्यँपूगी मन की आस/ माया मोह तीज भये उदास।

सोलह कला संपुरण चन्द्र। गुरु परसाते चिरमया कांधि।।

पन्द्रहथिति के 17 पदों में प्रत्येक तिथि के लिए योग – साधना की चर्चा की गयी है। जैसे– अमावस्या को आसन की दृढ़ता, प्रतिपदों को सदगुरु की प्राप्ति तथा सहज समाधि, द्वितीया को उन्मनी अवस्था की उपलब्धि तथा अभेद–दृष्टि इत्यादि। इन पन्द्रह तिथियों की साधना से योगी कालातीत हो जाता है।

(9) <u>सप्तवार –</u>

पन्द्रहतिथि की भाँति सप्तवार भी साधना ग्रन्थ है। इसमें भी वर्णन कुछ सांकेतिक है। आदित्यवार को श्वाँस–प्रश्वास के आवागमन को रोक कर पवन को स्थिर किया जाता है। सोमवार को शून्य की धारणा से काया को पुण्य–पाप से रहित करना होता है। इसी दिन सूर्य–चन्द्र का एकीकरण होता है। मंगलवार को माया को बाँधा जाता है। बुधवार को काया–साधन, बृहस्पतिवार को मन और इन्द्रियों का निग्रह तथा नवद्वारों को रोकना, शुक्रवार को शरीर का शोधन तथा षट्–कर्म थावर अर्थात शनिवार का दिन बड़ा महत्वपूर्ण है।

थावर थिर करि आसण देहू। बारह सोलह गिणिगिणि लेहू।

ससिरि के घरि आवे भांण। तां दिन थावर गंगन सनांन।।

इस पद में 12 सूर्य और 16 चन्द्र–कलाओं का संकेत किया गया है। इस प्रकार के 8 पदों में पिंड और प्राणी का परिचय प्रस्तुत किया गया है।

(10) <u>मछीन्द्र –गोरख बोध –</u>

संवाद शैली में लिखा गया यह ग्रंथ सम्पद्राय की दृष्टि से बड़ा महत्वपूर्ण

है। इस संवाद में योग–साधना की समस्याओं का समाधान प्रस्तुत किया गया है। यह प्रश्नोत्तर–रूप में है। एक बात इस ग्रंथ में लक्ष्य करने की यह भी है कि मछीन्द्र ने गोरख को अवधू और अवधूत कहा है जबकि गोरख ने मछीन्द्र को स्वामी नाम से संबोधित किया है। अवधूत को कहाँ रहना चाहिए, क्या देखना चाहिए तथा क्या विचार करना चाहिए इत्यादि आचार–व्यवहार–संबंधी प्रश्नों के अतिरिक्त नाथ, बिन्दु, सूर, उन्मनी, चक्र–ज्ञान आदि के सम्बन्ध में प्रश्न किये गये हैं तथा उनके सहज साधारण उत्तर प्रस्तुत किये गये हैं।

सन् 1937 ई0 में डा0 मोहन सिंह ने 'गोरख बोध' का अनुवाद अपनी पुस्तक में छपवाया था। इस ग्रंथ का मूल विषय लय–योग है जो नाथ–योग की एक साधना है।

(11) <u>रोमावली –</u>

इसमें भी योग सम्बन्धी प्रश्नों के उत्तर प्रस्तुत किये गये हैं। ग्रंथ की शैली गद्यात्मक मुक्तक है जो सम्भवतः ज्ञान शैली का प्रथम प्रयोग है।

इस ग्रंथ में काया की रचना के सम्बन्ध में विचार कियाा गया है। सप्त धातु, अष्ट योग, मुद्रा–बोध, बंध आदि की सूत्र–रूप में चर्चा की गयी है तथा मन, पवन, चेतना और ज्ञान को समझाया गया है। अन्त में सूर्य और चन्द्र की कलाओं का विवेचन है। सूर्य की चार कला साधनों में चन्द्रमा की सोलह कलाओं की प्राप्ति होती है। इस उपदेश से ग्रंथ की समाप्ति है।

ए चारि कला सूरज की साधे तो सोलह कला चन्द्रमा की पावै।
एती एक रोमावली ग्रंथ जोग कथित श्री गोरखनाथ।

(12) <u>ग्यानतिलक –</u>

यह ग्रंथ भी महत्वपूर्ण है क्योंकि इसमें 'शब्द' की महिमा का वर्णन है। इसमें अलख पुरुष का चिन्तन है। शब्द–योग की दृष्टि से यह ग्रन्थ महत्वपूर्ण है। इसमें

स्पष्ट कहा है –

ओम् सबदहि ताला सबदिहि कुंजी,

सबदहि सबदमया उजियाला।।

कांटा सेती कांटा बूंटे कूची सेती ताला।।

ग्यानतिलक में 45 पद हैं। इसमें सिद्ध, साधक तथा जीव–ब्रह्मा के ऐक्य की स्थिति का निरूपण है। अनेक उदाहरण प्रस्तुत कर इस तथ्य की व्याख्या की गयी है। गुरु में अटल विश्वास ही योग–साधना का मूल मंत्र है। रूपकों तथा प्रतीकों द्वारा माया के रूप की चर्चा की गयी है –

हाली भीतरि षेंत निदांणे बग्गू में ताल समाई।

बरसे मोर कहूकैं सावण, नदी अपूठी आई।।

यह ग्रंथ उलटबाँसियों का सुन्दर निदर्शन है। वास्तव में जानने की परीक्षा इसी ग्रंथ में सम्भव है। संधा भाषा में उलटबाँसियों की झड़ी–सी लगी हुई है। अन्त में सहज की अंगीठी पकाकर योग–सिद्धि प्राप्त करने का बड़ा सुन्दर रूपक प्रस्तुत किया है –

दिषणि हमारी दीवीपाक अगनिबल मुलतान।

ऐसे हम जोगेस्वर निपंता प्रगट्या पद निर्बान।।

बाक न निकले बूँद न ढलके, सहजि अंगीठी मरि–2 राधै।

सिद्ध समाधि योग अभ्यासी, तब गुरु परचें साँधे।।

(13) <u>पंचमात्रा–</u>

यह ग्रंथ आन्तरिक साधना का है जिसमें पंचमात्राओं के योग में समाविष्ट करने का विधान है। इस ग्रंथ में ब्रह्मांडम्बर का विरोध है तथा आन्तरिक सुधार पर विशेष बल है। इसमें पिंड और ब्रहमांड के ऐक्य का विवेचन किया गया है। यह पंच तत्वों में ही 'पुरिस' का वास बताया गया है, इसलिए पंच तत्व–विचार ही प्रमुख है।

पंच तत्व का करो षु विचार। बाहर भीतर येकंकार।

'पंचमात्रा' योगिक शब्दावली में पंचतत्वों का भेद स्पष्ट करने वाला एक महत्वपूर्ण ग्रंथ है। अन्त में स्पष्ट कहा गया है।

जे जोगी जाणे पंचमात्रा का मेब। सो आप करता आपे देव।

ये पंचमात्रा जोगी बूझे। ताकूँ त्रिभुवन से सकल देवता पूजे।।

इस प्रकार 24 पदों में पंचमात्रा के रहस्य को बड़े रोचक ढ़ग से स्पष्ट किया गया है। इसमें सिद्धों से कहा गया है कि यह पंच भूतात्मक जगत प्रणव से ही उत्पन्न हुआ है। जीव भी इसी विकास प्रक्रिया के अन्तर्गत है। इसलिए यह सिद्ध है कि जीव और जगत के तत्व समान ही हैं। जीव सक्रिय, सचेष्ट तथा जागृत अवस्था में है तथा जड़, जगत, सुषुप्ति अथवा लय की अवस्था में है उसमें निरंजन का पद विष्णु से उच्च बताया गया है।

'गोरखबानी' के परिशिष्ट' (क) में दी गयी पुस्तकों का परिचय इस प्रकार है –

(क) <u>गोरख–गणेश–गुष्टि –</u>

इस ग्रंथ में गोरख और गणेश के संवाद के माध्यम से पंच तत्वों और पच्चीस प्रकृति के तत्वों का विवेचन किया गया है। गोरख अपने को निरंजन योगी कहते हैं तथा शब्द में महत्व की स्थापना करते हैं। 25 प्रवृत्तियों का विवेचन करते हुए उन्हें पाँच तत्वों का ही विस्तार बताते हैं। फिर प्रत्येक तत्वों के रंग, स्वभाव आदि का वर्णन करते हैं। तदनन्तर प्रत्येक तत्व के घर, गुरु, गुण आदि का विवरण प्रस्तुत किया गया है, अंत में पंचतत्वों के ज्ञान से निरंजन–प्राप्ति एक बड़े सुन्दर रूपक से इस प्रकार बतायी है –

निरंजन देवता। पांणी का जामन। अगनि पुट।

पवन का थंमभा। सुरति निरति सोहय। सुनि में समाया।

अविगतसरूपी एवं उचितम् ।।[1]

(2) ज्ञान दीपक बोध (गोरख–दत्त–गुष्टि) –

इस ग्रंथ में गोरख शिष्य है तथा दत्तात्रेय गुरु। इस ग्रंथ में गुरु शिष्य की अद्वैतता का बड़ा सुन्दर प्रतिपादन हुआ है। गोरखनाथ ने दत्तात्रेय जी से आवागमन, माता–पिता, गुरु उपदेश, आसन, विश्राम, घर, ठाँव, मुक्ति, दुःख, नश्वर, अमर, सूक्ष्म, स्थूल डालमूल ब्रह्मा–कमल, उन्मन, त्रिकुटी, नाथ, बिन्दु बज्रकपाट आदि पर अनेक प्रश्न किये हैं। इस ग्रंथ में दतात्रेय जी को गैबी पुरुष बताया है। इसलिए पद संख्या 47 में गोरख ने इस प्रश्न में कहा है –

स्वामी कौन तत तुम राहो समाई, कौन तत तुम महो आई।

कौन परचे तुम्हें कहियै भेद, गोरख कहै सुखै दत्त देव।।

दत्तात्रेय इस प्रकार उत्तर देते हैं –

अवधू दत जु लागा तन हो, तब दत ही माँहि।

दत तत परचा गया, तब हुआ कहणां नाँहि।।

इस व्याख्या से उपनिषद के "तत्वमसि' वाक्य का सहसा स्मरण हो जाता है। इस प्रकार बावन पदों में विभिन्न तत्वों की व्याख्या की गयी है।

(3) महादेव–गोरष–गुष्टि –

इस ग्रंथ में कोई नवीन तथ्य नहीं है। पंच तत्वों की उत्पत्ति, उनकी प्रकृति तथा योग आदि का विवेचन हुआ है। यह ग्रंथ प्रश्नोत्तर रूप में नहीं है। महादेव जी के कथन अथवा उपदेश के रूप में लिखा गया है। इस में दो अध्याय हैं– प्रथम अध्याय है "महाग्यान पटल, द्वितीयपटल में बुद्धि, सहज, अलंकार, प्राण इत्यादि का वर्णन

---

1. गोरखबानी, पृ0 227

है। इसमें अन्तः करण को महत्ता दी गयी है जिसका अनुसरण करने से आत्मा ही परमात्मा हो जाती है[1] –

इस अंतहकरण मरण जीव अनुसरे हो
महामुक्ति आत्मा परमात्मा भवति।
जोगेश्वर जीव एक भवति। परम सून्य भावे
स्थिति। पारब्रह्मा वेलनि।
सत्यं–सत्यं बदाम्यहं।।[2]

इस ग्रंथ की भाषा पर संस्कृत की पूर्ण छाया है।

(4) <u>सिस्ट पुराण –</u>

इसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। तुलना देकर बताया गया है कि कौन किससे बढ़कर अभिव्यक्ति अभावात्मक है कि इससे बढ़कर वह नहीं है।

ऊँ एक उपंराति लेख नाहीं।
दोम पाषै सिस्टि नाहीं।
आपा पाषै परचा नाहिं।
+ + +
माता उपंराति जन्म नाहीं।
गर्भ उपंराति वरक नाहीं।
षंलत उपंराति हाणि नाहीं।
+ + +
काया उपंराति रतन नाहीं।
संच उपंराति शास्त्र नाहीं।

---

1. डॉ0 मनीष शर्मा, गोरखबानी परम्परा और काव्यत्व पृ0 61–68
2. गोरखबानी, पृ0 227

अपज उपंराति जाप नहीं।

अघोर उपंराति मंत्र नाहीं।

नारायण उपंराति इष्ट नाहीं।

निरंजन उपंराति ध्यान नहीं।

प्रस्तुत रूप (घ), (5) और (अ) के आधार पर दिया गया है। क्रम और संख्या में प्रत्येक प्रति में परस्पर भेद है।

(5) <u>दया बोध –</u>

दयाबोध का भी उल्लेख सेवादास की ही रचना के रूप में हो चुका है। योगी कहता है –

आओ सिद्धो षोज बताऊँ।

आदिनाथ का पूत कहाऊँ।।

योगारम्भ के लिए पहले अपने भीतर दया उपजाओ। हिंसा को छोड़ों, अविनाषी पुरुष लगाओ।

रिधि छाड़या सिद्धि पाइये, सिधि संकट के हाथि।

छांड़ौ सफल अक्ल कू हमाबो, मो कथंत जती गोरखनाथ।[1]

दासा भाव से उस अखंड ज्योति का साक्षात्कार होता है जो सम्पूर्ण ब्रह्मांड में प्रज्जवलित है।

दीपक एक आषंडित बाती। वहाँ जोगेश्वर थापता थापी।

अगम अगोचर सफल ब्रह्मांड। ता दीपग चरण न प्यडं

सिषा न नैन सीस नहि हाथ। सौ दीपम देख्याए जती गोरखनाथ।।

<u>कुछ पद</u>

(6) के आधार पर तीन पद दिये गये है –

---

1. डा0 बड़थ्वाल, गोरखबानी, पृ0 240

<u>प्रथम पद</u> आदि नयादि पार ब्रह्मा ऊँ शिव सकती।
नांद बिंद ले काया उतपती।
वाद विंद रूपी बोलिये ऊँ कार।
आतमा सूझ जती गोरखनाथ किया।
संसार विणास्मा आप जिया।।

<u>द्वितीय पद</u> झूझति सूरा बूझंती पूरा अमर पर पदछयावंतगुरु ग्यांन बंका।
दल कौ मारि जंजाल कौ जीति ले, निर्भय होय मेरि ले मन की सका।।

तथा

घटहिं मैं पैसि कर कूप पानी भरैं, तद पाई परि
पुरूषा आप उजालै। ग्यान कै प्रगटे श्री स्वभूनाथ पामा,
आकल अकथ जती गोरखनाथ हमामा।

<u>तृतीय पद</u> भूतमा सो भूतमा बहुरि चैतना, ससां के लोहे आपा न रवेना।

तथा

अवधू सिद्धा पामा साधूक पामा, ते उतरिमा पार
कयथ जती गोरखनाथ जेते जे जानत विचार,
ते जलि भमे अंगार।

तीनों पदों में सिद्ध पथ की ओर इंगित किया गया है। यह सहज नहीं है। गोरखनाथ ने कोई आसान काम नहीं किया है। ऐसा तो विरले ही कर पाते हैं।

(परिशिष्ट – 2 ख)

(ख–1) <u>सप्तवार नवग्रह</u> – में सातों बार और नो ग्रहों को जितना योगी के लिए बताया गया है। गोरख जोगी करौं विचारम तत जीतै सातो बार 11 (कै) अन्त में सअ राह

बताकर कहते हैं –

बदे पुरान पढ़ै चित लाई।
विद्या ब्रह्मा कंध थिरि थाई।
मछिन्द्र प्रसादे जती गोरख कहैं।
सप्तवार कोई विरला लहैं।

वास्तव में सत्य तो केवल इतना है –

आदिम आण्यां सोम श्रवण मंगल मुख परवांणा
बुध हिरदै वृस्पति नामी सुक्र ते इन्द्री जाण।
शनि गुदा वाम राह ते मनं केत ते नासिका रहैं।
सप्तवार नवग्रह देवता काया भूतरि श्री गोरख कहैं।।

अर्थात सारांश यह है कि जो ब्रह्माण्ड में है वही पिण्ड में है।

(ख–2) <u>वृत –</u> गुरु मुख से प्राप्त भेद, संतोष, सेवा दया ब्रह्मा की लगन, ऐसे वृत योगी को रखने चाहिए।

एक – जो इन्द्रिय ग्रहण करे। दो – मुख राम कहै।
तीन – झूंठ न कहैं । चार – दया मन में रखैं।
असली तो यह 4 वृत है। बाकी संसार का व्यवहार है।

इन वृत समि वमृत नहीं कोई। वेद अरू नाद कहैं मत दोई।

सलि वृत संतोष वृत, छिमा दया वृत दान।
दो पांचों वृत जो गहे, सोई साधु सुजान।
इन वृतां का जाणे भवे।
आपै करता आपै देव।

मन पवंना लैं उनमन रहैं।

एते वृत गोरखनाथ जी कहैं।

यहाँ भी बाहरी वृत की नही, भीतरी वृत की अधिक आवश्यकता दिखाई गई है।

(ख–3) <u>पंच अग्नि –</u> शरीर में पॉच प्रकार की अग्नि है –

ऊँ मूल अग्नि का रेंचक नाव।

सोषि लेह रक्तं पीत अर आथ।

बाकी चार अग्नि निम्नलिखित है –

मुयंगम अग्नि, ब्रह्मा अग्नि, काल अग्नि, रुद्र अग्नि।

इन अग्नियों का शरीर में क्या क्या काम है यह भी बताया गया है – पंच अग्नि भरि पूर रहैं।

सिंघ सकेंत श्री गोरख कहैं।

पूरिको पविंत वायु, कुंभ को का सोधनं

रेचको तजंत विकार, बाटिको आवागवण विवरजिंत।

सिंघ कर मारण कोई साधु जाण।

पंच अग्नि श्री गोरखनाथ वषाणै।

पाचों अग्नि सपूण भई।

अनतं सिंघा महो जती गोरख कही।।

शिष्य पूछता है, स्वामी जी, अष्ट मुद्रा बोलिए घर भतिरि, ते कोण कोणद्य गुरु मुद्रा का स्थान, कर्म, गुण बताते हैं –

अवघू मंद्री महमें जूलनी मुद्रा काम त्रिष्णा ले उतपनीकाम।

यह काम व तृष्णा को समाप्त करने से होती है। इस प्रकार कूलनी के अतिरिक्त मुद्रा में यह है।

जलाग्री, षरिनी, सेचरी, भूचरी, चाचरी, अगोचरी, उनमनी समो कृतवा सांस्कृत का बिगड़ा रूप इस प्रकार है –

ब्रह्माण्ड असंधानि उनमनी मुद्रा, परम जोति लै उतपनी।

परम जोति समो कृतक, मुद्रा तो भई उनमनी।

यती अष्ट मुद्रा का जाणैं मेव, सो आपै करता आपै देव।

इति अष्ट मुद्रा कथन्त श्री गोरखनाथ जती सम्पूर्ण समापत सिवाय शिष्य पूछता है –

चौबीस सिद्धि बोलये, प्रियि कै बिषै ते कोण काग?

गुरु 24 सिद्धि और उनके गुण बतायें जाते हैं। अनूमा सिद्धि (अणिमा) महिमा, गरिमा, ललिमा, प्राप्ति (प्राकाम्य), प्रकाशक, असंख्या, आवस्या तथा अनेक। किन्तु अन्त में कहते हैं कि यह सब ब्रह्माज्ञानी के तो आड़े आती है। इन्हें तो आने पर भी गुरु प्रसाद से त्याग दें जोगेस्वर तो रही है जो ब्रह्माज्ञानी है।

बल अपार गोरखनाथ समझावैं।

यती चौबीस सिद्धि त्यागैं। सोई परम ज्योति कूँ पावैं।

ऊपर हम बत्तीसों लक्षणों को गिना आते हैं। यहाँ उनके दोहराने की आवश्यकता नहीं। चार–चार गुरु एक–एक परिचय अथवा परीक्षा के अन्तर्गत है। कुल मिला कर बत्तीस हैं –

एती अप्टंग जोग पारछमा भगति का लछिन।

सिंधा पाई साधिंका पाई। जे जन उतरे पार।[1]

शिष्य पूछता है –

ऊँ गोरख देव अष्ट चक्र बोलिये घर भीतर, ते कोण कोण बोलिए।

गोरखनाथ कहते है। –

आधार, द्विष्ट, मणिपनु, अवहद, बिसुद, अगनि, गिवान

सुहिमा, आठ चक्र हैं दल, संख्या, स्थान भी बतलाते हैं।

ए अष्ट कमल का जागो लैव।

आषै करता आपै देव।

ऊँ आसे आदेस अलस अतीत।

तदा न होती धरती न आकास।

सब शंभु से हमारी उत्पत्ति हुई है। माता ने देख मास का भार नहीं लिया। पिता ने आचार विचार नहीं। योनि से नहीं आये। न नाभि कटाई।

गोरषराई सबके परे अनुपम शिला के नीचे बैठें हैं फिर योगी कहता है कि तुम वहाँ नहीं पहुँच सकते हो। वह स्थान तुम्हारे लिए बहुत दुर्गम है। तुम तो दमड़ी--चमड़ी का संग्रह करो, गुरु का सबद ले दिजिए भरौं।

गुप्ती चँ चलावौ हथियार, पंडित वृद्धि बघते अहंकार।।

ऊभा ले सिध बैठाते पाषण , श्री गोरखवाचा परंमागा।

अनन्त सिघा में रहिरास कहीं, गोदावरी के भैले ऐसी भाई।

परिशिष्ट 3 का उल्लेख ऊपर हो चुका है। अधिक महत्वपूर्ण नहीं समझ कर डा0 बड़थ्वाल ने पदों की केवल प्रथम पंक्तियों को ही दिया गया है। प्रथम पंक्तियाँ यह है –

(1) अवधू जाप जपो बनमाली चीन्हो।

(2) अवधू बोल्या ततक विचारी।

(3) आंबिलियो थल चौरियों।

(4) आवौ नै जोसी जोवौ विचारी।

(5) आवौ भाई धरि धरि जावौ।

(6) ऐसा रै उपदेस दासै श्री गुरु भूमा।

(7) ऊँ नमों सिवाय स्वामी ऊँ नमो सिवाय।

(8) गुरु कीजै गहला निगुरा न रहिला।

(9) गोरख बालूडा बोलै सतगुरु बांणी।

(10) गोरख कहै सुनो मछिन्द्र।

(11) गोरख गोपाल लै।

(12) गोरख जोगी तोला लौलै।

(13) च्यरि पहरि आलिंगन निन्द्रा

(14) तत वाणीजालो तत वाणी जीलो।

(15) तत बोली लो तत बोली लो।

(16) नाथ बोलै अमृत वांणी।

(17) पूछौ पंडित ब्रह्मा ग्यांन।

(18) नदंत गोरखनाथ दसवै द्वारे।

(19) वदंत गोरखनाथ परसिंल बोदार।

(20) बघो बहरिमा जीवो पीवों जीर।

(21) बोलमा गोरख घर जोई।

(22) मनसा देवी व्यौपार बांधौ।

(23) मेरा गुरु तीन छंद गावै।

(24) म्हारा रे नैराणी जोगी।

(25) एमिरै रमिता यूँ चोगांन।

(26) सखारै सखा त्रिभुवन चे गरवा।

(27) सोनात्थी रस सोना त्यों।

स्पष्ट है कि अनेक पद पहले आ चुके हैं। इनके नीचे तिलक है।

संक्षेप में गोरखनाथ के प्राप्त हिन्दी ग्रन्थों का यही परिचय है। पट्टी जैन मन्दिर (पंजाब) की हस्तलिखित प्रति में गोरख गोष्टि, महादेव गोरख सम्वाद ग्यान पटल (द्वितीयोहमारा), पंचमाला, पंचअग्नि, अष्टंतम जोग, रोमावली इत्यादि गन्थों का मिलान प्रतीत हुआ कि उनका स्वरूप कुछ प्राप्त संकलित रचनओं से दूर का नहीं है, केवल पाणतर है। गोरखनाथ का एक पद कुछ 'सलोक' कुछ 'चौपाई' डा0 मोहनसिंह ने भी अपनी पुस्तक में दिये हैं।

गोरखबानी के स्वरूप–विवेचन से स्पष्ट होता है कि उनका मूल विषय सिद्धान्त विवेचन नहीं है। एक ही बात को कई बार दोहाराया गया है तथा रचनाओं में कोई क्रम भी नहीं है। भाषा की दृष्टि से भी रचना में पर्याप्त भेद है। इसलिए यह कहना बड़ा ही कठिन है कि कौन सा पद गोरख रचित है तथा कौन सा परवर्ती है। साथ में यह भी समस्या है कि गोरख रचित रचनाओं में कितना परिवर्तन हो गया है, पीछे स्पष्ट किया जा चुका है कि अनेक सबदियों में इस्लामी प्रभाव है। साथ ही कुछ परवर्ती व्यक्तियों तथा देवताओं का भी उल्लेख है। श्री संयुक्त पदों की बात हम पहले ही कह चुके हैं सबदियों की भाँति पदों में भी इस प्रकार की अव्यवस्था है। डा0 रांगेय राघव ने अपने शोध ग्रन्थ गोरखनाथ और उनका युग में इस पक्ष पर विस्तार से विचार किया है।[1]

---

1. डॉ0 रागेंय राघव, गोरखनाथ और उनका युग, पृ0 186–190

अध्याय – 3

गोरखबानी का संत काव्य पर प्रभाव – चिंतन की दृष्टि से

संतों के समस्त तत्वदर्शन की मूलपीठिका का आधार वह आध्यात्मिक प्रेरणा है जिसका निरूपण विभिन्न परिस्थितियों में विभिन्न रूपों में भारत में होता रहा है। वस्तुतः संत–काव्य उन्हीं आध्यात्मिक प्रेरणाओं की अभिव्यक्ति है तथा उसका उद्देश्य एक ऐसे लक्ष्य की प्राप्ति करना है जिसके विषय में केवल अनुभूति ही सबसे बड़ा प्रमाण है। तब संत–काव्य के सिद्धान्त पक्ष पर विचार करने के साथ ही यह प्रश्न उठाना स्वाभाविक है कि अनन्त लोक में विखरे अनुभवों को सिद्धान्त की कोटि में किस प्रकार संजोया जाये। आध्यात्मपक्ष इन्द्रियातीत माना गया है। अध्यात्म के विषय हैं – आत्मा, जगत, माया परमात्मा और दुःख की निवृत्ति। इन विषयों की अनुभूति स्वयंमेव ही मानी गयी है। प्रत्यक्ष के अनुभवों को प्रमाणित माना जा सकता है किन्तु अप्रत्यक्ष के अनुभवों को बाहरी युक्तियों से प्रमाणित नहीं किया जा सकता। तर्क अथवा अनुमान के द्वारा इन्द्रियातीत पदार्थ का चिन्तन सम्भव नहीं है। वह तत्व अचिन्त्य बनकर सम्पूर्ण प्रकृति में वयाप्त है। प्राचीनतम भारतीय शास्त्रों में इस बात को स्वीकार किया गया है कि आत्मज्ञान केवल तर्क से ही नहीं प्राप्त होता।[1] केवल भारत में ही नहीं, विश्व के अन्य क्षेत्रों में आध्यात्मचिन्तकों ने भी ऐसे ही विचार व्यक्ति किये है।[2] अध्यात्म और अनुभूति दोनों का घनिष्ट सम्बन्ध है। केवल पुस्तकों के अध्ययन से आध्यात्मिक निष्कर्ष नहीं निकाले जा सकते, अनुभूति की सच्चाई ही उसका मापदण्ड है। संत कबीर ने एक स्थल पर प्रकट

1. डा0 कोमल सिंह सोलंकी, नाथ पंथ और निगुर्ण संत काव्य, पृ0 183
2. डा0 त्रिगुणायन, कबीर की विचारधारा, पृ0 192

किया है, 'तू कहता कागद की लेखी में कहता आँखें की देखी'[1]। संत–काव्य का सिद्धान्त पक्ष अनुभूतिप्रधान है।

अनुभूति की तीव्रता संतों में दो रूपों में मिलती है। एक रूप भावात्मक है तथा दूसरा विचारात्मक। भावात्मक अनुभूति का स्रोत रहस्यभावना है तथा विचारात्मक अनुभूति चिन्तन एवं मनन प्रसूत है। भावात्मक सत्ता का सम्बन्ध जहाँ एक ओर प्रकृति में व्याप्त सौंदर्यबोध से है तो दूसरी ओर वह मानव के मनस्तत्व से ही उतने ही अंशों में सम्बद्ध है। सुख, दुख, करूणा, क्रोध, प्रेम और घृणा आदि मानव के शाश्वत विकार हैं, इनसे पृथक् रहकर मानव मानव की संज्ञा से विभूषित नहीं किया जा सकता। यह अभिव्यक्ति जब विश्वात्मा के सान्निध्य के प्रति उन्मुख होती है तभी वह रहस्यात्मक हो जाती है। इन रहस्यमयी अभिव्यक्तियों को भी सहज स्वाभविक रूप से प्रकट नहीं किया जा सकता, इस प्रकार प्रतीकों की सृष्टि होती है। आध्यात्मिक क्षेत्र में पदार्पण करने वाले सभी कवियों को सांकेतिक भाषा की ही शरण लेनी पड़ती है[2] और रागविकारों के माध्यम से आध्यात्मिक सान्निध्य अभिव्यक्ति प्राप्त कर लेता है, मानों वह एक व्यक्तिपरक अनुभूति की समष्टिपरक अभिव्यंजना हो। इस स्थिति में सिद्धान्त गौण एवं अनुभूति प्रमुख हो जाती है। फिर भी संतों ने अपनी अनुभूति को प्रकट करते समय आध्यात्मिक शब्दावली का विशेष अर्थों में प्रयोग किया है जिनके आधार पर संत–काव्य के चिन्तन पक्ष पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। आध्यात्मिक शब्दावली के प्रयोगों एवं लोक चिन्ता के सहज प्रवाह के फलस्वरूप संत–काव्य के सिद्धान्तों के विषय में विद्धानों के पृथक–पृथक अनुमान है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का मत है कि संतों द्वारा प्रवर्तित सामान्य भक्ति मार्ग एकेश्वरवाद का अनिश्चित स्वरूप लेकर खड़ा हुआ जो कभी ब्रह्मवाद की ओर ढलता

---

1. कबीर ग्रन्थावली। पृ0 320
2. डा0 पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय, पृ0 336

था तो कभी पैगम्बरी खुदावाद की ओर।[1] अनुभूति की इस गत्यात्मकता को संतों में किस रूप में स्वीकार किया जाय यह भी एक प्रश्न ही है। इसी प्रकार सिद्धान्तों की परम्परा प्राप्त मान्यताओं के आधार पर विद्वानों ने संतों को अनेक दार्शनिक विचारधाराओं में बाँट दिया है[2], जिसका औचित्य प्रतीत नहीं होता है। संत–काव्य के रचयिता प्रायः इन सभी साधुवृतिक व्यक्तियों ने दार्शनिक ग्रन्थों का अवलोकन कर क्रमबद्ध रीति से उसका अध्ययन कभी किया था इसका कोई प्रमाण अभी तक उपलब्ध नहीं है। अतएव संतों के दार्शनिक सिद्धान्तों का विवेचन करते समय किसी मत विशेष का आग्रह किया जाना उपयुक्त नहीं है। बहुश्रुत होने के नाते संतों के पास आध्यात्मिक चिन्ता के अनेक सूत्र अपने लौकिक रूप में उपलब्ध अवश्य थे, यह तो स्वीकार करना ही पड़ता है[3]।

संत–काव्य के सिद्धान्त पक्ष को प्रभावित करने वाली दूसरी धारा है संतों के चिन्तन और मनन करने की वृति। भावात्मक अनुभूति से इसका क्षेत्र पृथक है। सुखवादी महायानी धर्मसाधना की प्रतिक्रिया में जिन विचारों का संतों ने खण्डन–मण्डन, तर्क और वितर्क के द्वारा स्वीकार किया उनमें भी लोक सामान्य सत्य की ही प्रधानता है। अपने सिद्धान्तों के प्रति अक्खड़ता तथा आत्मविश्वास की प्रधानता इसी का परिणाम है। संतों को यह विचार नाथपंथी योगियों से प्राप्त हुआ। यहाँ सिद्धान्त साधना की कसौटी पर कसकर प्रमाणित–अप्रमाणित सिद्ध किया जाने लगा। इस रूप में गलदश्रु भावुकता के लिए यह एक अंकुश सिद्ध हुआ। संतों के सिद्धान्त पक्ष के विवेचन में यह प्रवृति भी कम महत्व नहीं रखती है।[4]

भारत में अध्यात्म सम्बन्धी अनुभवों की प्राचीनता विश्वमान्य है। 'अध्यात्म के अन्तर्गत आत्मा, जगत, माया, परमात्मा आदि विषयों की चर्चा मिलती है। आध्यात्म का

---

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ0 66
2. डा0 पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय, पृ0 114
3. डा0 हजारी प्रसाद द्विवेदी, नाथ सम्प्रदाय, पृ0 187
4. डा0 कोमल सिंह सोंलकि, नाथ पंथ और निर्गुण संत–काव्य, पृ0 183–185

विषय स्वयंवेद्य हैं। इन्द्रियातीत पदार्थ का ज्ञान तर्क द्वारा नहीं किया जा सकता। उपनिषदों में अनेक स्थलों पर इसका स्पष्ट निर्देश है।[1] संतों ने जिस तत्वचिन्तन को अपनी वाणियों में समय–समय पर प्रकट किया है उसकी उद्‌भावना आकस्मिक नहीं मानी जा सकती। विविध प्रतीकों के माध्यम से ब्रह्मचिन्तन का जो रूप संतों में उपलब्ध है उसका सम्बन्ध भारतीय चिन्तन धारा से अत्यन्त प्राचीन काल से है। कुछ विद्वानों का अनुमान है कि ब्रह्म चिन्तन की धारा वेदों से निकली और उपनिषदों एवं परवर्तीयुगों के तट का स्पर्ष करती हुई जैन और बौद्ध काल में विस्तृत होती हुई चौदहवीं शताब्दी में इन संतों के ज्ञान क्षेत्र में सिमट गयी।[2] अनेक विद्वान उपनिषदों के तत्वचिन्तन और संतों के अध्यात्म सम्बन्धी विचारों में आश्चर्यजनक साम्य देखकर एक लम्बी परम्परा का संकेत करते हैं।[3] किन्तु श्री परशुराम चर्तुर्वेदी का मत है कि कबीर आदि संतों ने अध्यात्म सम्बन्धी सिद्धान्तों का प्रतिपादन दार्शनिक निरूपण के रूप में नहीं किया है। उन्होंने कबीर साहित्य की परख में एक स्थल पर कबीर साहब के सिद्धान्त की चर्चा करते हुए लिख है कि यह अनुमान करना कि उन्होंने शंकराद्वैत वेदान्त की बातें बतायी हैं अथवा रामानुजीय मत का अनुसरण किया है और उनकी ऐसी उक्तियों को एकत्र कर उनके आधार पर औपनिषदिक विचारधारा के साथ संगति बिठाना भी उचित नहीं।[4] मंतव्य यह है कि संतों के तत्वचिन्तन के मूल स्रोतों के सम्बन्ध में किसी एक निश्चित मान्यता को आधार नहीं माना जा सकता। किन्तु विद्वानों की विभिन्न स्थापनाओं में यह संकेत अवश्य उपलब्ध है कि संतों के आध्यात्मिक विचार मानव आत्मा के शास्वत विचार हैं तथा उनका सम्बन्ध किसी न किसी रूप में विश्व में शताब्दियों से व्याप्त रहा है। उनमें

1. डा0 कोमल सिंह सोंलकी, नाथ पंथ और निर्गुण संत काव्य पृ0 197
2. श्री सिद्धनाथ तिवारी, निर्गुण काव्य दर्शन, पृ0 11
3. डा0 पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय, निर्गुण संतों के सात्विक सिद्धान्तों और उपनिषदों की विचारधारा में स्पष्ट साम्य है, पृ0 156
4. परशुराम चतुर्वेदी, कबीर साहित्य की परख, संस्करण सं0 2011, पृ0 88

विभिन्नता हो सकती है किन्तु उनकी एकसूत्रता आश्चर्यजनक और उनकी पहुँच सर्वसुलभ है। अनुभव ही जिसकी एकमेव आधारशिला है। अनुभव की स्थिति में तर्क अथवा विवाद के लिए वहाँ स्थान नहीं है। कबीर का कथन है :

आतम अनुभव जब भयो तब नहिं हर्ष विषाद।
चित्त दीप सम है रह्यो तजकर वाद–विवाद।।[1]

नाथपंथी साधना के लोकव्यापक प्रभाव ने यद्यपि मध्ययुग की चिन्ता को विशेष रूप से स्पर्श किया है किन्तु वास्तव में नाथ पंथ एक साधना पंथ ही था, बौद्ध सहजयान धर्म की तत्वमीमांसा और व्यवहार की तुलना में नाथ पंथ एक विशुद्ध साधना पंथ ही बना रहा। अनुसार अंशतः सत्य ही माना जायेगा[2] किन्तु नाथपंथी साधना में क्रियाबहुल कठोर आचरण की मोटी पर्त के भीतर नाथपंथी चिन्तन का प्रचार लोक में न हो सका, यह भी उतने ही अंशों में विद्वानों द्वारा मान्य किया गया है। अद्वैत वेदान्त के शैवागमों से समबद्ध सिद्धान्तों का लोक जीवन में स्वागत न हुआ उसका कारण नाथ पंथ में शुष्क साधना का प्रबल आग्रह तथा गृहस्थ जीवन के प्रति अनादर का भाव था? ऐसी स्थिति में नाथपंथी साधना के लोक प्रभावी रूप से सम्बद्ध संत लोक चिन्तन की दृष्टि से योग और भक्ति का समन्वय स्वर लेकर उपस्थित हुए। यह तत्वचिन्तन अपने मूलरूप में भारतीय दर्शनों की व्यावहारिकता से पूर्णतया सम्बद्ध है तथा उसका उन्मेश विभिन्न परिस्थितियों में हुआ है। यही कारण है कि मूलतत्व के सम्बन्ध में सन्तों के चिन्तन करने का मार्ग पिछले सभी मार्गों से भिन्न है। अनुभव की कसौटी पर कसकर ही संतों ने परमात्मा, आत्मा और जगत माया के सम्बन्ध में अपनी स्थापनाओं को पुष्ट किया है। कबीर कहते हैं इसके लिए उन्हें कहीं जाना नहीं पड़ा, विचार करते ही करते समय का अनुभव हो गया। किन्तु इस अनुभव की पृष्ठभूमि के रूप में संतों के पास तत्वचिन्तन के

---

1. कबीर, साखी 81
2. डा0 हजारी प्रसाद द्विवेदी, नाथ सम्प्रदाय, पृ0 187

लिए कौन–सी आधारभूत सामग्री थी, यह भी एक विचारणीय बात है। जिस आध्यात्मिक वातावरण के आधार पर संतों का तत्वचिन्तन सम्भव हुआ मध्ययुग में उसके सूत्र कम से कम उपनिषद अथवा दर्शनग्रन्थ नहीं थे, प्रायः सभी विद्वान इस बात से सहमत हैं।[1]

संत मत को नाना मतों का विकसित रुप स्वीकार किया गया है। महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने भोटिया साहित्य को अनुशीलन के आधार पर चिंतन धारा का प्रवाह बारहवीं शताब्दी तक स्वीकार करते हुए कबीर का सिद्धों से सम्बन्ध स्थापित करने में कठिनाई का अनुभव किया था, किन्तु पं0 अयोध्या सिंह उपाध्याय ने सिद्धों के बाद नाना सम्प्रदाय के साहित्य को विकास की मध्यवर्ती कड़ी मानकर सिद्ध काव्य धारा को कबीर से विश्वासपूर्वक जोड़ दिया। डा0 पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल ने 'गोरखबानी की भूमिका' में उपर्युक्त तथ्य का उल्लेख करते हुए लिखा है – 'जो बात राहुल जी को कठिन जान पड़ी वही उपाध्याय जी को इसलिए सरल लगी कि उनके सामने 'हिन्दी काव्य में योग प्रवाह' शीर्षक मेरा निबन्ध था जो राहुल जी के सामने नहीं था। इस निबन्ध में पहले पहल नाथ योगियों और उनकी कविता का परिचय दिया था। इस संक्षिप्त परिचय से ही विद्वानों ने मान लिया कि नाथ योगियों की 'बानियाँ'' हमारे साहित्य और सांस्कृतिक विकास की लड़ी में एक महत्वपूर्ण कड़ी है।''[2] ''भक्तिवाद के पूर्व निःसन्देह यह सबसे प्रबल मतवाद था। इसलिए भक्तिवाद में इनके शब्द और मुहावरे ही नहीं, इनकी पद्धति भी बहुत कुछ आ गयी है।''[3] बाद के सभी लेखकों ने यह स्वकीार किया है कि नाथ मत का सिद्धान्त और साधना दोनों ही दृष्टियों से संत–मत पर पर्याप्त प्रभाव है। परशुराम चर्तुवेदी के अनुसार, ''सन्तों की साखियों तथा बानियों के पूर्व रुप नाथ–पंथियों की 'सबदियो' तथा 'जोगेसुरी वानियों' में दीख पड़ते हैं जिनके विषय भी

---

1. कबीर ग्रन्थावली, करत विचार मन ही मन उपजी, ना कहीं गया न आया, पृ0 83
2. गोरखबानी, भूमिका, पृ0 1.
3. हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ0 6

लगभग एक ही ढंग के हैं।"[1] इस सम्बन्ध में तीन बातें विचारणीय हैं – पहली बात तो यह ध्यान देने की है कि नाथ मत ने संत मत को उस रुप में प्रभावित नहीं किया है जिस रूप में दो सामानान्तर प्रवाहित विचार धाराएँ परस्पर सम्पर्क में आने पर एक दूसरे को प्रभावित करती हैं। नाथ मत और संत मत में पूर्वापर सम्बन्ध है। दूसरी बात ध्यान देने की यह है कि संत मत नाथ मत का शुद्ध परवर्ती रूप भी नहीं है, अर्थात ऐसा नहीं है *कि नाथ–मत की परम्परा ही पन्द्रहवीं शताब्दी में संत–मत के रुप में परिवर्तित हो गयी* हो। नाथ–मत की किन्हीं कारणों से, जनता में लोकप्रियता कम हुई और दक्षिण से वैष्णव भक्ति का उदार धार्मिक प्रवाह राघवानन्द और रामानन्द जैसे समन्वयशील महात्माओं के माध्यम से उत्तर भारत में आया। नाथ मत और वैष्णव भक्ति के सम्पर्क से योग और भक्ति समन्वित एक नवीन मत विकसित हुआ जिसे मुख्यतः निम्नवर्गीय जनता का समर्थन प्राप्त था। इस योग भक्ति समन्वित मत को सामान्तयः संत मत कहा गया। इसलिए संत मत को नाथ मत से अच्छा है उसे नाथ मत का लोकसम्मत स्वरूप कहा जाये। तीसरी बात ध्यान देने की यह है कि संत मत पन्द्रहवीं शताब्दी से लेकर उन्नीसवीं शताब्दी तक अनेक प्रभावों और परिवर्तनों को स्वीकार करके विकसित हुआ है। अतः नाथ मत का प्रभाव सभी संत–सम्प्रदायों पर एक सा पड़ा है। परवर्ती सन्तों में कई राम–भक्तों की रसिक परम्परा में प्रभवित है, कुछ सूफी साधना की ओर झुकें हैं और कुछ कृष्ण भक्ति धारा के निकट हैं, अतः सन्त मत नाथ पंथ के प्रभाव की चर्चा करते समय विशेष सजगता और सतर्कता अपेक्षित है।

पं0 हजारी प्रसाद द्विवेदी का मत है कि "कबीर आदि निर्गुणवादी सन्तों की बानियों की बाहरी रूप रेखा पर विचार किया जाये तो मालूम होगा यह सम्पूणतयः भारतीय है और बौद्ध धर्म के अन्तिम सिद्धों और नाथ–पंथी योगियों के पदादि से सीधा

---

1. कबीर साहित्य की परख, पृ0 15.

सम्बन्ध है। वे ही पद वे ही राग रागनियाँ, वे ही दोहे, वे ही चौपाइयाँ कबीर आदि ने व्यवहार की हैं जो उक्त मत के मानने वाले उनके पूर्ववर्ती सन्तों ने की थी। क्या भाव, क्या भाषा, क्या अलंकार, क्या छन्द, क्या पारिभाषिक शब्द – सब वे ही कबीरदास के मार्ग दर्शक हैं।" दूसरी ओर, कुछ ऐसे भी विद्वान हैं जो कबीरदास में योग मत सम्बन्धी बातों के लिए वैष्णव ग्रन्थों में विवेचित योग–साधना को आधार मानते हैं। 'अर्हिब्ध्यू संहिता, 'जयास्य संहिता', 'विष्णु संहिता', 'नारद पंचरात्र' आदि में योग मत का पर्याप्त विवेचन किया गया है।"[1]

कबीरदास ने नाथ मत के महान युग–पुरूष गोरखनाथ के प्रति सम्मान का भाव व्यक्त किया है –

गोरखनाथ त मुद्रा पहिरी मस्तक नहीं मुड़ाया।
ऐसा भगत भया भू ऊपरि गुरु पै राज छुड़ाया।।[2]

कबीर के बाद भी अनेक सन्तों ने गोरखनाथ के प्रति पूज्य भाव प्रकट किये है। सुन्दरदास, मलूकदास, हरिदास जैसे सन्तों ने स्पष्ट रूप से गोरखनाथ के प्रति श्रद्धा प्रकट की है। कबीर और दादू की अनेक उक्तियाँ गोरखनाथ की उक्तियों से मिलती जुलती है। दादू–पंथी सन्तों की बानियों के संग्रह ग्रन्थ 'सर्वगी' में गोरखनाथ, भरथरी, चर्पटनाथ, और गोपीचन्द की बानियाँ भी सग्रहित हैं। सन्तों की परम्परा में होने वाले नाथ–पंथी सन्तों के वाणी संग्रहों में भी गोरखनाथ और गोपीचन्द के गीत संग्रहीत हैं। सन्तों से मिलते जुलते अघोर पंथ को गोरखनाथ की एक शाखा के रूप में देखा गया है। इससे यह तो प्रकट है कि गोरखनाथ और उनके योग मत को निर्गुण सन्तों ने आदरपूर्वक स्वीकार किया है।

संत मत के प्रथम उन्नायक सन्त कबीर तथा उनके अनुयायी परवर्ती

---

1. नाथ और सन्त साहित्य, पृ0 618.
2. कबीर ग्रन्थावली, पृ0 101

सन्तों में नाथ मत का प्रभाव देखने के पूर्व आवश्यक है कि कबीर के उन कथनों पर भी दृष्टिपात कर लें जिनमें उन्होंने जोगियों को भ्रांत बताया है। वे कहते हैं –

कहैं कबीर जोगी अरु जंगम ए सच झूठी आसा।

रामहिं नाम रहौ चाश्रिग ज्यों निहचै भगति निवासा।।[1]

ऐसी स्थिति में जब कबीर और उनके अनुयायी सन्तों पर नाथ पंथ के प्रभाव की बात चिंतन की दृष्टि से की जाती है तो उसका एक ही अर्थ होता है कि संत कबीर तथा उनके परवर्ती अन्य सन्तों की बानियों में ऐसी अनेक बातें हैं जो नाथ पंथ में भी मान्य है। कबीर एक सच्चे साधक थे। गोरखनाथ के प्रति उनके मन में सम्मान का भाव था। गोरखनाथ ने भी अपने समय में अनेक साधनाओं में समाविष्ट अवांछित आचारों का निषेद किया था। विशेषतः वज्रयानियों ने मुद्रा–साधना के नाम पर जो उच्छृंखल परम्परा चलायी थी, उसका विरोध गोरखनाथ ने ही किया था। 'गोरखबानी' में भोग विलास की भर्त्सना करते हुए वे कहते हैं –

भोगिया सूते अजहूँ न जागे। भाग नहीं रे रोग अभाजे।

भोगिया कहै गल भोग हमारा। मनसई नारि किया तन छाणा।

एक बूँद नर–नारी सौ। ताही मैं विध साधक सीथा।[2]

कबीरदास जी का विश्वास सत्संग में था। उन्होंने अद्वैत से तो इतना ग्रहण किया कि ब्रह्मा एक हैं, द्वितीय नहीं जो कुछ भी दृश्यमान है, वह माया है, मिथ्या है और उन्होंने माया का मानवीकरण कर उसे कामिनी का रूप माना है। उनका ईश्वर एक है जो निर्गुण और सगुण से भी परे हैं वह अरूप है। उन्होंने ब्रह्म कें अपना मानसिक

---

1. कबीर ग्रन्थावली, पृ0 66
2. डा0 मनीषा शर्मा, गोरखबानी परम्परा और काव्यत्व पृ0 130–135

सम्बन्ध जोड़ा–ब्रह्म गुरु, माता–पिता, स्वामी–मित्र और पति के रूप में है।[1]

गोरखबानी में कहा गया है कि परब्रह्मा रमता राम से – चौगान का खेल खेलो। गोरख कहते हैं – हे पंडित, ब्रह्मज्ञान ही का अध्ययन मनन करों (क्योंकि) ब्रह्मज्ञान के बिना सब झूठा है) मनन पर जो मुक्ति पायी जाती है उसमें बैंकुठ में स्थान मिलना, वह गड्डे में अथवा चिता पर स्थान पाना है और चौरासी लाख योनियों के चक्कर में पड़ जाना है। इसलिए, जैसा हम नाथपंथियों के लक्ष्य विवेचन के प्रसंग में पहले कह चुके हैं, पिंडपातरहित इच्छामृत्युयुक्त जीवनमुक्ति ही नाथपंथियों का लक्ष्य है जिसमें अनेकता में ही एकता की उपलब्धि हो जाती है, परमार्थ सेवा और परोपकार मिलकर एक हो जाते हैं।[2]

यहाँ आत्मा, जगत, माया, और परमात्मा के सन्दर्भ में सन्त काव्य पर 'गोरखबानी' के प्रभाव को निम्नलिखित शीर्षकों में विवेचित किया जाता रहा है।

(क) <u>आत्मा</u> – संतों का विश्वास है कि उस परमतत्व के अतिरिक्त कहीं कोई भी अन्य प्रकार का तत्व नहीं है। आत्मा के सम्बन्ध में ब्रह्म से पृथक कोई विशेष सामग्री उपलब्ध नहीं होती। वैसे कबीर ने जब इस पर विचार किया तब उन्होंने उसे भी नित्य और निरविकार ही माना है। यह शरीर के भीतर समझे जाने वाला आत्मतत्व भी उसी राम का अंश है –

ना इहु मानुष न इहु देव। ना इहु जती कहावै सेव।।
ना इहु जोगी न अवधूता। ना इहु भाई न काहू पूता।।
या मन्दर यह कौन बसाई। ना इहु राज न भीखमंगासी।
ना इहु पिण्ड न रकतू राती। ना इहु ब्रह्मन ना इहु खाती।।

---

1. हिन्दी साहित्य कोष, भाग–2 पृ0 67
2. नागेन्द्रनाथ उपाध्याय, नाथ और सन्त साहित्य, पृ0 419.

ना इहु तया कहावै सेख। ना इहु जीवै न मरता देख।।

हस मरते को जो कोई रोवै। जो रोवै सोई पति खोवै।।

गुरु प्रसाद मैं डगरो पाया। जीवन मरन दोऊ निवाया।।

कहु कबीर इहु राम की अंसु। जस कागद पर मिटे न मंसु।।[1]

दादू भी आत्मा के पृथक अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते –

तन मन नाहीं मैं नहीं, नहिं माया नहिं जीव।

दादू एकै देखिये, दह दिसि मेरा पपीव।।[2]

संतों के आत्मतत्व सम्बन्धी विचार नाथपंथियों के आत्मतत्व सम्बन्धी विचारों से बहुत कुछ मिलते–जुलते हैं। गोरखनाथ ने अपनी वानियों में यह बात प्रकट की है कि आत्मा ही सर्वोत्तम देव है, वही गुरु है, वही परमतत्व शिव है।[3] यह आत्मतत्व अभेद है –

न्हाईवै को तीरथ न पूजिवे कौ देव।

मणंत गोरखनाथ अलष अभेद।।[4]

उनके मतानुसार आत्मा और शिव एक ही स्थान के निवासी हैं।[5] नाथ पंथियों ने परमानुभूतिगम्य तत्व राजाराम को आत्मा का स्वरूप कहा है और वही सब अंगों में निवास करता है।[6]

कबीर ने भी प्रायः वैसा ही कहा है –

सेई तुम्ह सेई हम एकै कहयत, जब आपा पर नहीं जाना।

---

1. कबीर ग्रन्थवली, पृ0 301
2. संत–काव्य, पृ0 296
3. आत्मा अन्तिम देव, ताही की न जाणों सेव।
   आनदेव पूजि–पूजि हमही मरिये।। – गोरखबानी, पृ0 94
4. गोरखवानी, पृ0 136
5. जीव सीव न सगै बासा ना बधि साहब रे रूध्रमासा।– गोरखबानी, पृ0 126
6. एही राजा राम आछै सर्वे अंग वासा।
   एही पांचौं तत्व बाबू सहजि प्रकाश। – गोरखबानी, पृ0 100

ज्यूँ जल में जल पपसि न निकसै, कहें कबीर मनमाना।।[1]

"सृष्टिकर्ता में ही सृष्टि है और सृष्टि में सृष्टिकर्ता ओतप्रोत हैं। दोनों में स्वभवतः अन्तर नहीं।

मनुष्य उक्त सृष्टि के ही अन्तर्गत है और यह उसका सर्वश्रेष्ठ नमूना है, इसलिए यह भी उसी प्रकार सृष्टिकर्ता का अंग है। देखने पर इसका शरीर और उसके भीतर की जीवात्मा दोनों भिन्न–भिन्न प्रतीत होते हैं, किन्तु कबीर साहब इस बात पर विचार करते हुए कहते हैं, "पंचतत्वों को मिलाकर तो शरीर का निर्माण किया है, किन्तु सोचने की बात है कि तत्व किस वस्तु से निर्मित है और उसी प्रकार यदि जीव को कर्मवद्ध कहा जाता है तो फिर उसे कर्म दिया किसने होगा। सच तो यह है कि हरि में ही पिंड है और इस पिंड का शरीर में ही हरि है और वही सर्वमान्य व निरंतर है।"[2] यह शरीर के भीतर की जीवात्मा न तो मनुष्य है न देव है, न योगी है न यती है न अवधूत है, न माता है , न पुत्र है, न ग्रही न दासी है, न राजा है, न ब्राह्मण है, न बढ़ई है, और न तो तपस्वी है और न शेख ही है। यह तो उस राम का परमेश्वर का एक अंश स्वरूप है और यह उसी भाँति नहीं मिट सकता जिस प्रकार कागज पर से स्याही का चिन्ह नहीं मिटा करता।[3] वह मूलतः वही है जो पूर्ण सत्य है, अतएव उसमें दीख पडने वाली विभिन्नताएँ मिथ्या है और उसके 'भरम करम' अर्थात् उसके भ्रमात्मक दृष्टिकोण तथा उस कर्म के कारण है जो उसके जन्मांतरों का आधार है। इन दोनों ने संसार मात्र को भुला रक्खा है, क्योंकि इनके ही कारण मनुष्य ज्ञान से रहित हो जाता है और अपनी

---

1. कबीर ग्रन्थावली, पृ0 136
2. नागेन्द्रनाथ उपाध्याय, नाथ और सन्त साहित्य, पृ0 419
3. आदि ग्रन्थ, राग गौड़, पद 31

'मति' गवॉ बैठता है।"[1]

आत्म चिंतन की ओर बौद्ध सिद्धों ने भी पूरा ध्यान दिया था और भुकुसपा ने तो उक्त रूपक द्वारा प्रायः उन्हीं शब्दों में उसका वर्णन भी किया है। किन्तु गुरु गोरखनाथ की साधना की विशेषता उनके अजपा जाप तथा उसके साथ ब्रह्मज्ञान को भी महत्व देने में है। ये अन्यत्र कहते हैं कि "इस प्रकार मन लगाकर जाप जपों कि 'सोंह सोंह' का उपयोग वाणी के बिना भी होने लगे। दृण आसन पर बैठकर ध्यान करो और रात--दिन ब्रह्मज्ञान का चिंतन किया करो।"[2] यह ब्रह्मज्ञान आत्मविचार है जिसे उक्त साधना के साथ निरंतर चलना चाहिए। आत्मा को ये सर्वत्र व्यापक समझते हैं और इनका ध्यान आकृष्ट हो सके। इनके अनुसार "आत्मा ही मछली है, वही जाल है, वही धीवर है और वही काल भी है। वह स्वयं मारता है और स्वयं खाता है। वही मात्रा के रूप में अनेक बन्धन डालता है और वही जीवन बनकर उसमें पड़ भी जाता है। उसके बाहर कोई तीर्थ नहीं, जहाँ स्नान किया जाये और न कोई देवता है, जिसका पूजन किया जाय। वह अलख व अभेद है, किन्तु जो कुछ भी है, वही है।"[3]

इनके सारे उपदेशों का सारांश यही जान पड़ता है कि "दशम द्वार अथवा ब्रह्मरंघ्र में सदा ध्यान केन्द्रित रखो, निराकार पद का सेवन करो, अजपा जाप जपो और आत्मतत्व पर विचार करो। इससे सभी प्रकार की व्याधियाँ दूर हो जायेगी तथा पुण्य व

---

1. आदि ग्रन्थ, राग गौड़, पद 4
2. कबीर ग्रन्थावली, पद 84, पृ0 114
3. गोरखबानी, पद 30, पृ0 124

पाप किसी से संसर्ग नहीं रह जायेगा। निरंतर एक समान व सच्चे हृदय के साथ 'राम' में रमना ही केवल एक मात्र उद्देश्य है और इसी के द्वारा मुझे भी परमनिधान का ब्रह्मपद उपलब्ध हुआ है।"

गोरखबानी में कहा गया है कि –

अलस विननांषी दोई दीपक रचिले तीन भवन एक जोती।

तास विचारत बिभवन सूझे चुणिल्यौ माणिक मोती।।[1]

इस पद में कहा गया है कि विज्ञान स्वरूप अलक्ष्य परब्रह्मा ने दो दीपकों की रचना की उन दोनों दीपकों में अलख का ही प्रकाश है। उसी एक ज्योति से तीनों लोक व्याप्त है। उस ज्योति के विचार करने से तीनों लोक सूझने लगते हैं । त्रिलोक दर्शिता आती है और हंस स्वरूप आत्मा ज्ञान रूपी मोतियों को चुगने लगता है तथा उसे माणिक्य रूप कैवल्यानुभूति हो जाती है।[2]

जो हो इस विषय में भारतीय सन्तों में प्रायः कोई मतभेद नहीं कि आत्मा नामक एक स्थायी वस्तु है जो बाहरी दृश्यमान जगत् के विविध परिवर्तनों के भीतर गुजरता हुआ सदा एक रस रहता है। ये सभी पंण्डित स्वीकार करते हैं कि जब तक ज्ञान नहीं हो जाता, तब तक यह आत्मा जन्म–कर्म के बन्धन से मुक्त नहीं हो सकती। अब प्रश्न यह है कि यदि यह पुरुष या आत्मा उदासीन है, या दुःख मुख से परे है, और चित्तस्वरूप है, तो जन्म और कर्म के बन्धन में पड़ता कैसे है और मृत्यु के बाद एक जन्म का कर्मफल दूसरे जन्म में ढोकर ले क्योंकर जाता है? जो निर्गुण है, उसे आधार बनाकर पाप और पुण्य के फल कैसे दूसरे जन्म में पहुँच जाते हैं? क्योंकि यह तो सभी मानते हैं कि कर्मफल जड़ है, अतः उनमें इच्छा नही होती, इसलिए यह तो साफ प्रकट है कि वे

1. गोरखबानी, पद 33, पृ0 127
2. परशुराम चतुर्वेदी, उत्तर भारत की संत परम्परा, पृ0 198,199, 621

इच्छापूर्वक आत्मा का पीछा नहीं कर सकते, फिर यह कैसे सम्भव है कि इस जन्म का कर्मफल दूसरे जन्म में मिलता ही हो? सीधा जबाब यह है कि ईश्वर इस व्यवस्थ को इस ढंग से चला रहा है।

इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए शास्त्रकारों ने लिंग शरीर की बात बताई है। यह तो निश्चित है कि आत्मा एक शरीर से दूसरे शरीर में संक्रमित होती है। गीता में भगवान् ने कहा है कि जिस प्रकार मनुष्य पुराने वस्त्र को छोड़कर नया धारण करता है, उसी प्रकार आत्मा जीर्ण शरीर को परित्याग कर नवीन शरीर धारण करती है। इसी प्रकार वृहदारण्यक उपनिषद् में बताया गया है कि जोंक जिस प्रकार एक तृष से दूसरे पर जाते समय पहले अपने शरीर का अगला हिस्सा रखती है और फिर बाकी हिस्सों को खींच लेती है, उसी प्रकार आत्मा पुराने शरीर को छोड़कर नये शरीर में प्रवेश करती है। इससे केवल इतना ही जाना जा सकता है कि आत्मा स्वयं ही दूसरे शरीर में प्रवेश करती है, पर उदाहरण से सिद्धान्त निकालना ठीक नहीं, क्योंकि उदाहरण केवल क्रिया के एक अंश के लिए ही प्रयुक्त होता है। उपनिषदों में बार–बार कहा गया है कि आत्मा के साथ सूक्ष्म या लिंग शरीर भी जाता है। वृहदारण्यक में बताया गया है कि यह आत्मा विज्ञान, मन, प्राव, श्रोत्र, पृथ्वी, जल, वायु, आकाश, तेजस्, अतितेजस् काम, अकाम, क्रोध, अक्रोध, धर्म और अधर्म इत्यादि सब कुछ लेकर निर्गत होता है। ये जैसा करता है वैसा ही फल पाता है। इसका अर्थ यह हुआ कि आत्मा के साथ ही साथ समस्त धर्माधर्म तथा तन्मात्रगण बंधे होतें हैं।

सांख्यकारिका में करीब–करीब इन सभी बातों को एक शब्द में 'लिंग शरीर' कहा गया है बताया है कि प्रकृति के विकारस्वरूप तेईस तत्वों में अंतिम पाँच तो अत्यन्त स्थूल हे, बाकी अठारहों तत्व मृत्यु के समय पुरुष के साथ ही साथ निकल जाते हैं। जब तक पुरुष ज्ञान प्राप्त किये बिना मरता है, तब तक ये तत्व उसके साथ–साथ लगे होते हैं। अब, यह तो स्पष्ट ही है कि इन अठारह तत्वों में से प्रथम तेरह अर्थात् बुद्धि,

अहंकार, मन और दसों इन्द्रिय तो प्रकृति के गुण–मात्र है, उनकी स्थिति के लिए किसी ठोस आधार की जरूरत है। वे बिना आधार रह ही नहीं सकते। वस्तुतः पन्चतन्मात्रों को मृत्यु के समय आत्मा का अनुसरण करते जो बताया गया है, वह इसीलिए कि वे तन्मात्र उक्त तेरह तत्वों को वहन करने का सामर्थ्य रखते हैं, – ये अपेक्षाकृत ठोस हैं। जब तक मनुष्य जीता होता है, जब तक तो उसका स्थूल शरीर इन गुणों का आश्रय होता है, पर जब वह मर जाता है तब पंचतन्मात्र ही इन गुणों के वाहक होते हैं।

उपनिषदों में इसी बात को और ढंग से कहा गया है। इनके अनुसार प्रकृति या माया कोई स्वतन्त्र वस्तु नहीं है, केवल ब्रह्मा या आत्मा का ही नामरूपात्मक स्वरूप है। बदलने वाली वस्तु नाम और रूप है और स्थिर शाश्वत वस्तु आत्मा है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार हार, अँगूठी, कंकण आदि में बदलने वाली वस्तु नाम और रूप है, पर स्थिर वस्तु सोना है। नाम रूप का आवरण सर्वत्र एक सा–ही नहीं है। कहीं वह गाढ़ा है, कहीं पतला। इसके भी नाना स्तर है। जड़ है, चेतन है, फिर चेतन की भी लाखों योनियाँ हैं। इन सब योनियों में मनुष्य योनि श्रेष्ठ है। आत्मा के दो आवरण है– पहला आवरण तो शुक्र–शोषित –निर्मित शरीर है। इसी को उपनिषदों में अन्नमय–कोष कहा गया है। दूसरा आवरण अधिक सूक्ष्म है उसमें क्रमशः प्राणमय, मनोमय, ज्ञानमय और आनन्दमय कोष है। भगवान् ने गीता में कहा है कि इन्द्रियगण है, पर इनसे भी सूक्ष्म मन है और उनसे भी सूक्ष्म बुद्धि है, और इस बुद्धि से भी सूक्ष्म जो कुछ है, वही आत्मा है।[1]

(ख) <u>जगत</u> – संतों की दृष्टि में परमात्मा और आत्मा एक ही परमतत्व का अभेद रूप है पर जगत के सम्बन्ध में भी संतों का मत स्पष्ट है। इस सम्बन्ध में नाथपंथी साधक मौन हैं किन्तु संतों का आग्रह है कि जब सब कुछ ब्रह्म ही है तो जड़ पदार्थ भी ब्रह्म से पृथक नहीं है। जो कुछ दिखाई पड़ता है उसके सम्बन्ध में संतों ने अपनी

---

1. डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, कबीर, पृ० 103–105

वाणियों में यत्रतत्र प्रकाश डाला है किन्तु उनके ब्रह्म निरूपण के आधार पर यह स्पष्ट है कि जड़जगत वस्तुतः सत्य नहीं है, केवल अज्ञानवश ही उसे सत्य समझ लिया गया है।

कबीर कहते हैं –

दुइ दुइ लोचन पेखा। हौं हरि बिन और न।
नैन रहे रंग लाई। अब बेगल कहन न।
हमारा भरमु गया भय भागा। जब राम नाम।
बाजीगर डंक बजाई। सभी खलक।
बाजीगर स्वांग सकेला। अपने रंग।[1]

दादू सीधा प्रश्न करते हैं कि हे गुसाई! इस जगत में कभी–कभी माता–पिता, स्त्री–पुरुष है, किस विनोद का यह परिणाम है?

सुन्दरदास ने ब्रह्म में ही जगत को देखा है –

ब्रह्म मांहि यह जगत देखियत, व्योम मांहि धन योंही।
जगत अभ्र उपजै अरु बिनसै, वे हैं ज्यों के त्योंही।।[2]

संतों की दृष्टि में यह जगत धुएँ के मेघ के समान है, अस्थिर है, इसलिए झूठा है, कब समाप्त हो जाय कुछ पता नहीं। केवल परमात्मा ही सत्य है।

संतों के जगत विषयक अनुभव के सम्बन्ध में डा0 बड़थ्वाल ने एक स्थल पर प्रकट किया है कि निर्गुण संतों ने समस्त सांख्य ज्ञान को अपनी विचारधारा में मिला लिया है। दार्शनिक दृष्टि से सांख्य दर्शन में सृष्टि विकास का सर्वोत्तम परिचय उपलब्ध होता है । योग ने तथा अन्य दर्शनों ने उसे यथावत् स्वीकार कर लिया है। किन्तु यदि हम इस तथ्य पर तर्कपूर्ण रीति से विचार करें तो ज्ञात होगा कि संतों ने सृष्टि के

1. क्यो कर यहु जग रच्यो गुसाई मोरी आस।
   तेरे कौ विनोद बन्यौ मन मांही बड़ी विलास।। – कबीर
2. कबीर ग्रंनथावली। पृ0 1

क्रम विकास के सम्बन्ध में केवल जिज्ञासा मात्र ही की थी अथवा सांख्य के तीन, पाँच, पच्चीस तत्वों को कहीं–कहीं प्रकट किया है, संतों का सृष्टि विकास पूर्णतया किसी दर्शन विशेष पर आधारित नहीं है। दर्शन का विधिवत् अध्ययन करने वाले संत सुन्दरदास ने अवश्य ही सृष्टि क्रम का सांख्य दर्शन के अनुसार वर्णन किया है किन्तु उन्हें भी शंका है कि कहीं इस सृष्टि को कोई सत् न माने?

हमारी अनुभूति की अंतिम सीमा अधिक से अधिक विश्व की कल्पना तक ही परिमित रह सकती है, अतः सत्य का जो भी नाम होगा विश्व सपेक्ष्य होगा। परमात्मा अथवा परमेश्वर नाम भी उसके लिए तभी यर्थाथ होगा और उसी दशा में अपनी कल्पना के अनुसार उसे अन्य नाम भी देंगे। इसलिए यह भी कहा गया है कि "निरपेक्ष परमेश्वर (God) का वह स्वरूप है जो जगत् के पूर्व का है और परमेश्वर नाम हम निरपेक्ष को ही जगत सम्बन्धी दृष्टिकोण से दिया करते हैं।[1] कबीर साहब ने प्रायः जगत को उन सभी नामों से पुकारा है जो इनके समय में हिन्दू, मुस्लिम, बौद्ध, जैन, बेदान्थी, नाथपंथ समाजों में प्रचलित थे। ये किसी भी ऐसे नाम के प्रयोग करते समय उसके व्युत्परित मूलक अर्थ की ओर विशेष ध्यान देते नहीं जान पड़ते और इसी कारण जिन–जिन को ये सत्य के भिन्न–भिन्न प्रतीकों के रूप में भी व्यवहत करते हैं, वे भी कभी–कभी इनके 'राम' व 'साहिब' की भाँति सजीव व सचेष्ट दीखने लगते हैं। फिर भी इन्होंने सृष्टि व जगत सम्बन्धी बातों का वर्णन करते समय उसे किसी क्रियाशील पुरुष के नामों से सूचित किया है। वे कहते है कि "मैंने अपने दो–दो नेत्रों से जगत् के भीतर देखने की चेष्ट की है, मुझे हरि के बिना कुछ भी हीं दीख पड़ा है। मेरे नेत्र उसी के अनुराग में अरुण हो गये है, अब उसके सिवाय मुझसे और कुछ भी नही कहा जाता .... । जिस प्रकार बाजीगर अपना ढोल पीटकर तमाशे आरम्भ कर देता और सभी लोग उसे देखने जुट जाते हैं, उसी प्रकार इस जगत् की सृष्टि व प्रलय का भी रहस्य है।[2]

---

1. डा0 बड़थ्वाल, गोरखबानी, पृ0 3
2. आदि ग्रन्थ, रागु, सोरठि 4

उस हरि ने ब्रह्माण्ड के रुप में अपनी लीला का विस्तार कर रखा है, वह उसे सकेल कर फिर अपने रंग में रमण करने लगता है। उस नट ने ही यह सभी अभिनय कर रखा है, वह जो कुछ खेलता है वही उसकी नटबाजी दीख पड़ती है। उसने यह सारा संसार कहने सुनने मात्र के लिए ही रचा है और वह इसी में छिपा हुआ भी है, उसे कोई पहचान नहीं पाता। उसने सत, रज एवं तम नामक तीनों गुणों के द्वारा यह मायात्मिकता सृष्टि रच रखी है। वह स्वयं आनन्द स्वरूप है और यह सारी सृष्टि उस आनन्द तरु के पल्लव–रुपी गुणों का विस्तार मात्र है, पंचतत्व उसकी शाखाएँ हैं तथा रामनाम उसके सुन्दर फल के रुप में है। सृष्टिकर्ता की दृष्टि से वह किसी भिन्न व्यक्ति विशेष सा प्रतीत होता है, किन्तु वास्तव में वह एवं सारी सृष्टि मूलतः एक ही है, क्योंकि "सृष्टिकर्ता में ही सृष्टि है और सृष्टि में सृष्टिकर्ता ओतप्रोत है" दोनों में स्वभावतः अन्तर नहीं।[1]

गोरखबानी में कहा गया है कि –

वास सहेती सब जग वास्या, स्वाद सहेता मीठा।
साच कहूँ तौ सतगुर मांने रुप सहेता दीठा।।[2]

ब्रह्मा की सुगंध से सारा जगत सुगंधित है। वह जगत में सुगंध के समान व्याप्त है। उसके स्वाद से सारा जगत मीठा है। जिसको ब्रह्मानन्द का आस्वाद मिल जाता है उसके लिए सारे संसार के अत्यधिक दुःख की कटुता मिट जाती है, और जगत् आनन्दमय (मीठा) हो जाता है (क्योंकि समस्त जगत में उसे) उसी का रूप दिखाई देता है। (उसी के रुप में जगत सुन्दर है)। इस सत्य का विश्वास केवल सद्गुरु को हो सकता है। जिसे ब्रह्मानुभव नहीं वह इस पर विश्वास कैसे कर सकता है।

यह सम्पूर्ण विश्व शिव का पर पिंड है। इसे अनादि पिंड भी कहते हैं।

---

1. डा0 परशुराम चर्तुवेदी, उत्तरी भारत की सन्त परम्परा पृ0 196–198
2. डा0 बड़थ्वाल, गोरखबानी, पृ0 10

शिव तरूण इस अनादि विश्वरूप महासाकार पिंड का प्रकाशक, धारण करने वाला और व्यवस्थापक है। इसी साकार पिंड से तथा इसी अनादि पिंडातर्गत अगणित जीव कोटियों की उद्भूति होती है जो उन्हीं तत्वों से विरचित, उसी शक्ति में संगठित तथा उसी आत्मा से प्रकाशित है। इन्हें व्यष्टि पिंड कहते हैं। तत्वतः महासाकार अनादि पिंड और व्यष्टि पिंड एक ही है। प्रत्येक पिंड धारी जीव के भीतर शिवतत्व सदैव विधमान रहता है। पूर्ण विकसित मनो भौतिक मानव–शरीर प्रत्यक्षतः शिव के भौतिक शरीर के स्वभाविक विकास की उच्चतम स्थिति में है। व्यष्टि पिंड विश्व पिंड का संक्षिप्त रूप है जब दृण विश्वास के साथ यह अनुभूति हो जाती है तब यह समझा जा सकता है कि पिंड का रहस्यज्ञान हो गया है। जब 'व्यक्ति' 'आत्मा' और –विश्वात्मा' तथा व्यष्टि–पिंड और समीष्ट पिंड का अज्ञानजन्य भेद मिट जाता है तभी वास्तविक 'समरसीकरण' की स्थिति समझी जानी चाहिए। योगी के लिए यह शिव पिंड का ज्ञान जानना अत्यन्त आवश्यक। उदाहरणार्थ कुछ पंक्तियाँ नीचे दी गई है –

ऊंकार आछे बाब मूल मन थारा। ऊंकार व्याषीले सकल संसारा।।
नाद ही तो ओछ बाबू सब कछू निधांनां। नाद ही पाइये परम परम निखांना।।
(नादानुसन्धान)

आऊँ नही जाऊँ निंरजन नाथ की दुहाई।
प्यंड ब्रह्माण्ड षेंजतना, अम्हे सब सिधि पाई।।[1]

सन्त कवियों का यह कहना है कि यह कहना कठिन है कि यह जगत कब उत्पन्न हुआ था अर्थात इस नाम–रूपात्मक जड़ जगत की स्थिति कबसे है। यह अनादि है, इसलिए यह कर्म–प्रवाह भी अनादि है। वृह्दारण्यक उपनिषद में नाम और रुप

---

1. डा0 मनीषा शर्मा, गोरखबानी परम्परा और काव्यत्व, पृ0 138, 139

के साथ कर्म की गणना है। वेदान्ती लोग यद्यपि इसे सांख्यावादियों की भाँति स्वतंत्र तत्व नहीं मानते, तथापिकर्म प्रवाह को तो अनादि मानते ही है।[1]

(ग) माया – संतों ने माया की घोर निन्दा की है। कबीर उसे रघुनाथ की माया ही कहते है जो शिकार खेलने निकली है और समसामायिक जालों में फंसाकर मुनि, पीर, जैन, जोगी, जंगम, ब्राह्मण और संन्यासी की कबड्डी है।[2]

वह वेश्या है[2] डाकिनी है कड़वी बेल ह।[3]

आंगन बेल, अकास फल, अनव्यावर का दूध।

ससा सींग की धूनहड़ी, रमै बांझ का पूत।।[4]

दादू की दृष्टि में भी माया सर्प के समान है, वह कनक और कामिनी बनकर सम्पूर्ण सृष्टि को डस रही है –

माया सांपणि सब डसै कनक कामिणी होइ।

ब्रह्म विश्नु महेस लौं, दादू बचे न कोई।।[5]

माया ही जीव और परमात्मा के मध्य मेल उत्पन्न करती है। वह बड़ी विश्वासघातिनी है।[7] इस माया का सृजन सत, रज और तम से मिलकर हुआ है –

सत, रज तम मैं कीन्हीं माया।[6]

यह माया ही सम्पूर्ण भरम–करम की मूल प्रेरक है तथा ये भरम करम अनादि है। तब संतों का इस सम्बन्ध में इस प्रकार का कथन कभी–कभी उपयुक्त समझ में नही आता। संतों की माया सम्बन्धी धारणा के दो पक्ष प्रतीत होते हैं– एक पक्ष

---

1. डा0 हजारी प्रसाद द्विवेदी, कबीर, पृ0 105, 106
2. कबीर ग्रन्थावली, पृ0 32
3. वही पृ0 86
4. संत सुधाकर, पृ0 478
5. जांणौं जे हरि को भजैं, मो मन मोरी आस।
   हरि बिचि धाले अंतरा, माया बड़ी विलास।। – कबीर
6. कबीर ग्रन्थावली, प10 225

लोकाभिव्यक्तिसम्मत है, दूसरा वेदान्तपरक। लोक जीवन में भौतिक सुखों और कर्मो के मध्य व्यस्त मनुष्यों के लिए दुख का कारण माया ही है, किन्तु वेदान्तपरक स्थिति में माया कुछ है ही नहीं, यदि उसे कुछ कहा जा सकता है तो यही कि वह परमसुन्दरी है जिसका स्वभाव है संसार को ठगना, उस ठगनी का परित्याग करने की कोई लाख चेष्टा करे वह पिण्ड नहीं छोड़ती और उसे बार–बार पकड़ती रहा करती है। वह जल, थल और आकश में सर्वत्र एक समान व्याप्त है और कभी – कभी माता–पिता, स्त्री–पुरूष आदर–मान और जप–तप के रूप में बन्धन में डाल दिया करती है।[1] श्री परशुराम चतुर्वेदी ने ठीक ही अनुमान किया है कि यह माया ही वस्तुतः उस परमतत्व की नटसारी की लीला भी है और वही यह सत, रज और तम के रूप में दीख पड़ने वाली त्रिगुणात्मिका प्रवृत्ति भी है जिसका 'पसारा' सारे जगत के रूप में लक्षित होता है और जो इस प्रकार के जाल में फँसाकर 'अहेड़े' का शिकार करने निकली है।[2]

संतों का माया विषयक यह वर्णन इस बात की पुष्टि करता है कि संतों का ब्रह्निरूपण वेदान्त से प्रभावित है और उनका परमतत्व ब्रह्म ही है जिसे 'कर्ता' की उपाधि भी संतों ने प्रदान की है। माया के विषय में कबीर आदि संतों का आधार कुछ बातों को छोड़कर वेदान्त की त्रिगुणात्मिका प्रवृति ही माना जायेगा। यद्यपि ब्रह्म, जीव और माया के पारस्परिक सम्बन्धों को लेकर कुछ विद्वानों ने संतों की माया विषयक धारणा को केवल वेदान्तसम्मत होना स्वीकार नहीं किया है अपितु उसके आधार पर संतों की विभिन्न दार्शनिक धाराओं का विवेचन भी किया है जिस पर पृथक से विचार किया गया है। संतों के मूल आध्यात्मिक चिन्तन से हम उनके माया विषयक प्रसंग को मिलाते हैं तब ऐसा प्रतीत होता है कि अपनी मूल स्थिति में संतों के लिए माया और अविद्या में कोई भेद नहीं है। भारतीय जीवन में पन्द्रहवीं शताब्दी में व्याप्त मायावाद के प्रभाव के

---

1. कबीर ग्रन्थावली, पृ0 114
2. वही

फलस्वरूप संतों का दृष्टिकोण भी सगुण भक्ति भावना से असम्बद्ध माया विरोधी ही बना रहा। हो सकता है कालान्तर में अनेक वैष्णव सम्प्रदायों के प्रभाव स्वरूप कुछ संतों ने 'माया' को कर्ता से भिन्न माना हो किन्तु हम केवल ऊपरी प्रभाव पर यह नहीं कह सकते कि संतों ने दार्शनिकों की भाँति उसे तर्कसहित भिन्न मानकर अपने मत की स्थापना की हो।

मायावाद पर भारतीय दार्शनिकों द्वारा समय-समय पर विचार व्यक्त किये गये हैं किन्तु मध्ययुग में स्वामी शंकराचार्य ने माया के सम्बन्ध में शास्त्रीय ढंग से कुछ स्थापनाएँ की हैं। स्वामी शंकराचार्य का माया विषयक सिद्धान्त मध्ययुग की विचाराधारा में मुख्यरूप में प्रतिष्ठित हुआ और जैसा कि पिछले अध्यायों में प्रकट किया है, माया के प्रश्न को लेकर दार्शनिकों के अनेक सम्प्रदाय बने। संतों ने इन दार्शनिक सम्प्रदायों से विशेष सम्बद्व न होते हुए भी अपने अनुभव के आधार पर माया को विरोधात्मक गुणसम्पन्न बेलि कहकर उसकी अनिर्वचनीयता को स्वीकार किया है।

मोर तोर करि जरे अपारा। मृग तृष्णा झूठी संसारा।।[1]

दर्शनशास्त्रियों की भाँति संतों ने माया के भेद नहीं किये हैं। कुछ विद्वानों का ऐसा विचार है कि कबीर आदि संतों ने माया के समान किसी निरंजन पुरुष की भी चर्चा की है।[2] निरंजनी सम्प्रदाय में निरंजन की अत्यधिक महिमा गायी गयी है, किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि निरंजन कोई प्राचीन प्रच्छन्न बौद्धमत था, कबीर मत को जिससे निपटना पड़ा था कुछ बातें कबीर मत में ग्रहण भी की गयी होंगी किन्तु बाद में निरंजन को परम पुरुष से पृथक धोखेबाज पुरुष समझा जाने लगा है।[3] आगे चलकर शिवदयाल आदि संतों ने निरंजन को परमपुरुष रूप सिन्धु की एक बूँद मान लिया और उसने माया

---

1. कबीर ग्रन्थावली, पृ0 233
2. डा0 त्रिगुणायन, कबीर की विचारधारा, पृ0 246
3. डा0 हजारी प्रसाद द्विवेदी, मध्यकालीन धर्मसाधना, पृ0 90

के संयोग से सृष्टि की रचना की है।[1] माया के सम्बन्ध में विचार करते हुए यदि संतों की वाणियों का अनुशीलन करें तो उसमें अनेक अवान्तर प्रसंग मिल सकते हैं। बंधु बान्धव और नारी के सम्बन्ध में विरक्ति भाव की घोषणा, संतों की माया विषयक अभिव्यक्ति में मिल जाती है। कबीर कहते हैं –

पुत्र कलत्र लक्ष्मी माया इहै तजहूँ जीऊ जानी रे।[2]

लोक चिन्तन में माया का इतना व्यापक प्रभाव हुआ कि सामाजिक व्यवस्था के सुत्रों के प्रति तो विरक्ति भावना बलवती होती ही गयी, पारिवारिक सम्बन्धों में भी विरक्ति भाव का बीजारोपण हो गया। फलतः दार्शनिक पृष्ठभूमि से अवतरित माया की भावना लोक जीवन में मिलकर विरक्त गृहस्थभाव में परिणत हो गयी। संतों ने सामान्य रूप से उसे प्रतीक रूप में ही आरोपित किया है।

संत मत पर नाथ–पंथ का प्रभाव महत्वपूर्ण रुप से पड़ा है। बहुत सी बातें ऐसी है कि जिनका विरोध नाथों ने अपने समय में किया आगे चलकर उन्हीं बातों का विरोध सन्तों की वाणियों में देखने को मिलता है।

सन्त कबीर ने भरम–करम का मूल कारण अपनी रचनाओं में कदाचित कहीं–कहीं बतलाया है। मायातत्व का वर्णन करते समय उसे इन्होंने किसी विश्वमोहिनी सुंदरी के रुप में चित्रित किया है और उसका स्वभाव इन्होंने सजग प्रलोभन देना, ठगना व फँसना दिखलाया है। "उसका त्याग करने की कोई कितनी भी कोशिश किया करे, वह पिंड नहीं छोड़ती और फिर उसे पकड़ती ही रहा करती है। वह जल, स्थल व आकाश सवर्त्र व्याप्त है और कभी माता–पिता, कभी स्त्री–पुत्र, कभी आदर–मान व कभी जप–तप व योग के रूपों में ही बन्धन डाल देती है। इतना हीं नहीं यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो माया का प्रभाव सारी सृष्टि में ही दृष्टिगोचार होगा। "पानी में मछली को माया ने ही आबद्ध कर लिया है, दीपक की ओर पतंग माया के ही कारण आकृष्ट होता है। हाथी को

---

1. डा0 पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय, पृ0 162
2. नाथ पंथ और निर्गुण संत पृ0 217

माया ने कामवासना दी है, कुत्ते, सियार, बंदर, चीते, बिल्ली, लोमड़ी और भेड़ माया में ही रंगे हुए हैं और वृक्ष की जड़े तथा वास्तव में माया द्वारा फँसायी गयी है। छः यती, नव नाथ व चौरासी सिद्ध तथा माया के प्रपचों से बच नहीं पाए और देवगण, सूर्य, चन्द्र, सागर, पृथ्वी आदि सभी इसके प्रभावों से प्रभावित हुए है। ये उसे एक स्थान पर सर्पिणी के रूप में भी दिखलाते हैं और कहते हैं कि यह "निर्मल जल के समान शुद्ध जीवात्मा में प्रवेश कर उसे विषैला सा बना देती है। फिर भी यह वस्तुतः मिथ्या व सारहीन है और जिस परमेश्वर की इच्छा के रुप में इसका अविमार्व हुआ है, उसी के लिये वह शक्ति सम्पन्न होती व नष्ट होती है। .... अपने शरीर की बस्ती में उसे बसी हुई पाकर भी केवल अपने बूते पर उसे निकाल नहीं सकते।"[1] इसके विषय में यह भी कहना ठीक है कि "यह हमारे मन में एक 'डाइनि' के रूप में रहकर नित्यशः डँसती अर्थात् अभिभूत करती रहती है और उसके पाँच पुत्र हैं जो सब नाच नचाया करते हैं।"[2] और 'हमारे शरीर रुपी गढ़ को रात दिन चोरी की भाँति लूटा भी करते हैं।"[3] ये पाँच माया–पुत्र काम, क्रोध मोह, मद व मत्सर जान पड़ते हैं क्योंकि इन्हीं की सहायता से 'भरम करम' का बल पाना संभव है।

गुरु गोरखनाथ ने अपने एक पद में मृगया के रुपक द्वारा मनोमरण की क्रिया को बड़े सुन्दर ढंग से समझाया है। ये कहते हैं कि —इस साढे तीन हाथ के पर्वत व शरीर में माया रुपी बेल भले प्रकार से फूली फली हुई है, इसमें मुक्ताफल भी लगते हैं और इसी के विस्तार में सारी सृष्टि का भी अस्तित्व है। फिर भी इस बेल की कोई जड़ नहीं है। (अर्थात माया निर्मूल व मिथ्या है) और यह ऊपर तक फैलकर गोस्थान व ब्रह्मनुभूति के स्थल पर आवरण डाले हुए है। इस बेल का लोभी मृग (अर्थात मन) इसमें

1. गुरु ग्रन्थ साहिब, रागु भासा, पद 19, पृ0 480–1
2. कबीर ग्रन्थावली, पद 226, पृ0 168– वही पद 84
3. कबीर ग्रन्थावली

सदा विचरण किया करता है और उसे मारने के लिए ऐसा भील (अर्थात् आत्मा) प्रवृत्त होता है जिसके न तो हाथ हैं, न पैर है और न दाँत हैं तथा जिसके पास मृगों को मोहित करने के लिए कोई सुरीले सुर के बाजे व मारने के लिए हाथ में तीर–धनुष भी नहीं है। ऐसी स्थिति में रहता हुआ भी वह शिकारी अचूक निशाना मार देता है और बिना किसी बाहरी साधन के यह उसे बेघकर अपने हाथ कर लेता है। अपने स्थान पर लाए गये उक्त मृग को जब शिकारी देखने लगता है, तब पता चलता है कि वास्तव में उसके चरण–सींग अथवा पुच्छ गुरु गोरखनाथ ने भी इसका विरोध किया है, परन्तु इन्होंने इससे मुक्ति का मार्ग भी निकाला है। वे कहते है कि भले ही माया रुपी बेल शरीर में फलती फूलती है परन्तु उस समय रुपी बेल में मुक्ताफल भी लगते हैं।[1]

संत कबीर ने माया को निगुणात्मिका प्रकृति माना है। पर जो माया चैतन्यस्वरूप ब्रह्मा को ईश्वर रूप में प्रकट करती है वह सत्व गुण प्रधान है, अर्थात उसमें रजोगुण और तमोगुण का प्रायः अभाव है। कुछ वेदान्ती आचार्य प्रकृति को दो प्रकार की मानते हैं। सत्वप्रधान और अविशुद्ध सत्वप्रधान। पहली को 'माया' कहते हैं, दूसरी को 'अविध्या'। पहली ईश्वर की उपाधि है दूसरी जीव की इसलिए कहा जा सकता है कि माया ही संसार को चला रही है, क्योंकि मायोपाथिक चैतन्य ही ईश्वर है। इसी भाव को लक्ष्य करके कबीरदास ने कहा था कि यह रघुनाथ की माया ही है जो शिकार खेलने निकली है और साम्प्रदायिक जालों में फँसाकर मुनी, पीर, जैन, जोगी, जंगम, ब्राह्मण, सन्यासी को मार रही है।[2]

स्पष्ट ही प्रतीत होता है कि कबीरदास का यहाँ 'रघुनाथ' से तात्पर्य वेदान्तियों के परब्रह्मा से है। परन्तु कबीरदास के पदों से जान पड़ता है कि उन्होंने

---

1. डा0 परशुराम चतुर्वेदी, उत्तरी भारत की संत परम्परा, पृ0 198–200
2. कबीर ग्रन्थावली, पद 270

'माया' को 'अविध्या' से अलग करके नहीं देखा। वेदान्त–ग्रन्थों में माया और अविध्या की एकात्मता के पोषक वाक्य बहुत से मिल सकते हैं। सो, माया ही कबीर दस के मत से भरमा रही है। वही उन्हें भी भुलवाने पहुँची थी। कबीर ने होशियारी से जबाब दिया था 'माया रानी, पत्थर नहीं भीज सकता। कबीर नहीं डीगेगा। जिस मच्छ की तू मच्छी है वह मेरा रखवाला है। जरा भी नजर डांलू तो नाराज हो जाए। तू और जगह जा।'[1]

और भी आगे बढ़कर कबीर पंथ में एक और अध्याय जोड़ा गया था। माया निरंजन की शक्ति है। ब्रह्माण्ड में जो माया है, पिण्ड में वही कुण्डलिनी है। कुण्डलिनी का ही नाम माया है। आधशक्ति है, नागिन है, ठगिनिया है, और भी कई नाम है। नागिन का फुफकार प्रभाव है। इसी तरह ब्रह्माण्ड में जो वस्तु निरंजन है वही पिण्ड में मन है। कबीरदास ने माया के सम्बन्ध में जो कुछ कहा है वह वस्तुतः वेदान्त द्वारा निर्धारित अर्थ में है। खूब सम्भव है कि कबीरदास ने भक्ति सिद्धान्त के साथ ही माया सम्बन्धी आदेश भी रामानन्दचार्य से ही पाया था, इसलिए बराबर भक्त को मायाजाल से अतीत समझते हैं।[2]

(घ) <u>परमात्मा</u>

संत कबीर ने परमतत्व के सम्बन्ध में लक्ष्य करते हुए लिखा है :

अपने में रंगि आपनपों जानूं।
जिहि रंग जांनि ताही कूं मानूं।।[3]
अभि अंतरि मन रंग समाना। लोग कहें कबीर बीराना।।

---

1. वही, पद 270
2. डा0 हजारी प्रसाद द्विवेदी, कबीर, पृ0 107–109
3. डा0 कोमल सिंह सोंलकि, नाथ पंथ और निर्गुण संत काव्य, पृ0 197, 198

रंग न चीन्हें मूरख लोई। हिहि रंगि रंग रह्या सब कोई।।

जे रंगकबहू न आवै न जाई। कहै कबीर तिहि रह्या समाई।।[1]

परमतत्व के प्रति जिज्ञासा भाव की व्यंजना संतों ने अपने अनुभव द्वारा की है। संतों की स्थापना के स्वरूप निरूपण एवं ब्रह्म जिज्ञासा के शाश्वत विवरणों में एक विलक्षण साम्य है। यद्यपि विद्वानों द्वारा ब्रह्म विचार का प्रश्न महा जटिल प्रश्न माना गया है। ब्रह्म जिज्ञासा के शास्त्रप्रवण स्वरूप का, बहुप्राचीन श्रृंखला का भी ब्रह्मनिरूपण में कम स्थान नहीं है। ब्रह्म जिज्ञासा को कुछ विद्वानों ने ब्रह्मवाद की संज्ञा से अभिहित भी किया है[2] तथा उसकी प्राचीनता का विस्तृत परिचय दिया है। ब्रह्म के सम्बन्ध में ऋगवेद तथा अन्य वैदिक साहित्य में विस्तार से चर्चा है। आरम्भ में ब्रह्म शब्द का अर्थ धन, वाक् और प्रार्थना था। किन्तु इन अर्थों का प्रचलन शीघ्र इसकी व्युत्पत्ति द्वारा बन्द हो गया। व्युत्पत्ति से ब्रह्म शब्द वृह (बढ़ना) धातु से बना है। जो वृहतम या महतम हो, जो सबसे बढा चढ़ा हो, जिसमें बढ़ना क्रिया के सभी अर्थ शामिल हों, उसे ब्रह्म कहा जाता है। शंकर रामानुज आदि ब्रह्मवादियों ने अपने भाष्यों में ब्रह्म शब्द की यही उत्पत्ति की है।[3] ब्रह्म के विषय में यह जिज्ञासा उपनिषदों में आकर अत्यन्त व्यापक एवं लोक प्रभावी रूप में प्रकट हुई। यद्यपि उपनिषदों की ब्रह्म जिज्ञासा की शैली वैदिक साहित्य की शैली से मेल नहीं खाती फिर भी वैदिक साहित्य में इस प्रकार की जिज्ञासामूलक विचारधारा का प्रादुर्भाव भी हो गया था। ब्रह्मवाद के विकास के सम्बन्ध में श्री सिद्धनाथ तिवारी का कथन है कि पुरुष सूक्त और नासदीप सूक्त की अधिक बातें धचपच शैली में लिखी हुई हैं। ऐसा लगता है कि कोई जिज्ञासु संसार और ब्रह्म के रहस्य की गहनता से अवाक् होकर दनादन प्रश्न पर प्रश्न किये जा रहा है और बीच–बीच में समस्याओं का समाधान भी करता जा रहा हो।[4] उपनिषदों में ब्रह्म जिज्ञासा

1. संत–काव्य, पृ0 214
2. कबीर ग्रन्थावली (प्रकाशित 1947), पद 26, पृ0 97
3. हिन्दी साहित्य कोष (ज्ञान मण्डल), पृ0 520
4. निर्गुण काव्य दर्शन– सिद्धनाथ तिवारी, पृ0 13, 14

का यही स्वरूप लक्षित होता है। 'छान्दोग्योपनिषद्' में कहा गया है कि जहाँ कुछ और नहीं देखता, कुछ और नहीं जानता तथा कुछ और नहीं सुनता वह भूमा है किन्तु जहाँ कुछ और देखता है, कुछ और सुनता है एवं कुछ और जानता है वह अल्प है। जो भूमा है वही अमृत है और जो अल्प है वही मृत्यु है। इस प्रकार भूमा या ब्रह्म को अनानात्व या अद्वैत कहा गया है।[1] तैत्तिरीय उपनिषद् के अनुसार जिससे निश्चय ही ये सब भूत उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होने पर जिसके आश्रय से ये जीवित रहते हैं और अन्त में विनाशोन्मुख होकर जिसमें ये लीन होते हैं, उसे विशेष रूप से जानने की इच्छा करे, वहीं ब्रह्म है। प्रायः प्रत्येक उपनिषद् इसी प्रकार की जिज्ञासा को लेकर अपना विवेचन प्रस्तुत करता है।

ईसा की आठवीं शताब्दी में स्वामी शंकराचार्य ने ब्रह्म के अस्तित्व के लिए तीन प्रमाण दिये[2]– (1) सभी वस्तुओं का कोई मूल कारण है। वस्तुओं का हमें यथार्थ ज्ञान भी होता है, उसका मूल कारण ब्रह्म है, वह असत् नहीं हो सकता क्योंकि असत् से सत् की उत्पत्ति कदापि नहीं हो सकती। (2) जगत की वस्तुओं में अपनी क्रमिकता दृष्टिगोचर होती है इनका अनुक्रम किसी अचेतन मूल कारण से नहीं हो सकता। उनका आदि कारण चेतन है, न कि जड़ प्रकृति अर्थात् ब्रह्म है। (3) ब्रह्म प्रत्यगात्मा होने के कारण सबको सर्व् अनुभव होता है कि मैं हूँ। इस 'मैं हूँ' में यही ब्रह्म है।[3]

ब्रह्म विचार की दृष्टि से आध्यात्मिक आचार्यों की पहुँच बहुत दूर तक हुई है। विद्वानों के मतानुसार भारतीय दर्शनों में सांख्य दर्शन प्राकृतिवाद, न्याय वैशेषिक ईश्वरकारणवाद और वेदान्त ब्रह्मवाद को मानता है। ब्रह्म के स्वरूप को लेकर ब्रह्मवादियों में भी मत भिन्नता मिलती है। उपनिषदों में ब्रह्म और परमतत्व प्रायः पर्याय

---

1. हिन्दी साहित्य कोष, मूल श्लोक 1, पृ0 520
2. हिन्दी साहित्य कोष, पृ0 522
3. हिन्दी साहित्य कोष, पृ0 533

ही माना गया है, यह मत भिन्नता यद्यपि विवेचन सम्बन्धी है तथापि एक और अद्वितीय ब्रह्म ही जगत का निमित्त और उपदान कारण है, यही वेदान्त के अनुयायियों का मुख्य स्वर है। इस परमतत्व अथवा ब्रह्म के दो रूप है – निर्गुण और सगुण। निर्गुण ब्रह्म गुण, विशेषण, आकार और उपाधि से परे हैं, उसे किसी विशेषण, चिह्न या लक्षण से लक्षित नहीं किया जा सकता। सगुण ब्रह्म सविशेष, साकार और सोपाधि है, जिसे किसी गुण चिह्न या विशेषण द्वारा पहचाना जा सकता है और जिसका स्वरूप हृदयंगत किया जा सकता है। ब्रह्म तथा अन्य आत्मप्रधान चिंतन मध्ययुग के बौद्धधर्म की अनात्मवादी प्रतिक्रिया से प्रभावित हुआ था यह भी पृष्ठभूमि में दिये गये अध्यायों में देखा ही है, यद्यपि बौद्धधर्मानुयायी अपने को उपनिषद् से असम्बद्ध नहीं पाते, फिर भी ब्रह्म जिज्ञासा में बौद्ध चिन्तन की अनात्मवादी धारा का महत्वपूर्ण हाथ है, स्वामी शंकराचार्य ने जिसे ज्ञान और कर्म के बल से पुनः स्थापित किया था। धार्मिक पुनर्जागरण के फलस्वरूप ब्रह्म की अर्द्वत वेदान्त की धारणा लोक जीवन में परिव्याप्त हो उठी, नाथ पंथ जो कि केवल साधना पंथ ही था उसमें भी हमें ब्रह्म के सम्बन्ध में अद्वैत वेदान्त की शैली की जिज्ञासा मिलती है।[1]

नाथ पंथ में अर्द्वत वेदान्त से अपने को पृथक सिद्ध करने के लिए साधक यद्यपि अपने आपको द्वैताद्वैत विलक्षणवादी कहते हैं[3] किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि यह केवल पंथगत भेद का निर्देशन मात्र है। शून्य, विनानी आदि शब्दावली में प्रयुक्त ब्रह्म भावना का यह लोकसम्मत स्वरूप नाथ पंथ में विशेष रूप से दृष्टव्य है। हमारा विश्वास है कि संतों की वानियों में नाथ पंथ की ब्रह्म भावना का एक परिष्कृत स्वरूप ही आध्यात्मधारा के रूप में पहुँचा है। नाथपंथी साधकों की ब्रह्म भावना शास्त्रसम्मत नहीं कही जा सकती यद्यपि लोक भाषा में जो वानियां उपलब्ध हुई हैं उनमें उसका स्वर इस बात को स्पष्ट कर देता है कि नाथ पंथ की पूर्व परम्परा में ही संतों की ब्रह्म जिज्ञासा को

---

1. नाथ पंथ और निर्गुण संत काव्य पृ0 ।११

ढूँढ़ा जा सकता है। डा0 बड़थ्वाल ने अपने प्रबन्ध 'हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय' में संतों की दार्शनिक पृष्ठभूमि पर विस्तार से विचार किया है किन्तु जिस दार्शनिक पृष्ठभूमि को उस काल की लोक चिन्ता ने अत्यधिक प्रभावित किया था उस पर भी विचार कर लेना चाहिए। उसके लिए नाथपंथो साधकों द्वारा रची हुई कुछ ब्रह्म जिज्ञासा सम्बन्धी बानियाँ दृष्टव्य हैं :

गोरखनाथ का कथन है कि एक (परब्रह्म) ही में अनन्त सृष्टि का वास है और अनन्त सृष्टि में एक ही परब्रह्मा का निवास है। उस एक ही ने इस अनन्त सृष्टि को उत्पन्न किया है। जब आभ्यंतर में उस एक से परिचय प्राप्त हो जाता है, तब सारी अनन्त सृष्टि एक ही में समा जाती है।[1]

ऐसा प्रतीत होता है जब नाथपंथी साधकों का बोलबाला रहा होगा तब भी ब्रह्म के विषय में प्रत्यक्ष प्रमाणों के अभाव में सामान्य जीवन में कोई विशेष चिंतन नहीं था, इसीलिए शायद कहा गया है –

आस्ति कहूँ तो कोई न पतीजै, बिन आस्ति क्यों सीधा।[2]

किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि काया साधना में लीन नाथपंथी साधक ब्रह्म के औपचारिक चिन्तन तक ही अपने को सीमित समझते रहें हों। उनके लिए ब्रह्म केवल ज्ञान का विषय ही नहीं है, अपितु अनुभूति के द्वारा वे ब्रह्मानन्द का अनुभव करते हैं :

पैर जोई ने एका पुरिष पधारया, पुरिष की पारिषा पाई।
पुरिषै मिली पुरिष रस राख्या, पुरिषैं पुरिष निपाया, मेरे ज्ञानी।[3]

ब्रह्म रूपी तत्व का ज्ञान भी सुलभ नहीं है। जैसे प्रत्येक वन में चन्दन का वृक्ष नहीं होता उसी प्रकार तत्व भी बिरला ही समझता है।[4] वह तत्व विचारने पर

---

1. एक में अनन्त अनन्त में एकै, एकै अनन्त षया।
   अंतरि एक सौ परचा हुआ तब अनन्त एक में समाया।। – गोरखबानी, पृ0 103
2. गोरखबानी, पृ0 104
3. वही, पृ0 89
4. घर घर सूण्यां ग्यान न होई। बनि बनि चन्दन सब न कोई।।
   रतन रिधि कवन कै होई। ये नस बूझे बिरला कोई।। गोरखबानी, पृ0 58

एकाकार प्रतीत होता है। गोरखनाथ ने कहा है :

आसाण बैसिवा पवन निरोधवा धांन मांन सब धंधा।

बदंत गोरखनाथ आतमां विचारंत, ज्यूं जलदीसै चंदा।।[1]

ब्रह्म जिज्ञासा एवं लोकोत्तर आनन्द की विरूद्ध परिस्थितियों में प्रायः इस बात पर बल दिया गया है कि ब्रह्म ज्ञान अथवा इस भेद के रहस्य को सर्वसाधारण नहीं समझ सकता। नाथपंथी साधकों की यह दृढ़ धारणा प्रतीत होती है कि अभेद के भेद को, अद्वैत के रहस्य को कोई बिरला ही जानता है। द्वैत के पक्ष का निरसन किसी बिरले को आता है।[2] किन्तु ब्रह्म अण्ड से लेकर ब्रह्माण्ड में, जड़ जगत से लेकर चेतन तत्व में, समान रूप से विद्यमान है। गोरखनाथ का कथन है कि ब्रह्म की सुगन्धि से सारा जगत सुगंधित है। उसके स्वाद से सारा जगत मीठा है। समस्त जगत में उसी का रूप दिखाई देता है, वह केवल अनुभव से जाना जा सकता है।[3] रातदिन ब्रह्मज्ञान का कथन करना चाहिए। इस विज्ञान स्वरूप अलक्ष्य परब्रह्म ने दो दीपकों की रचना की (व्यक्त और अव्यक्त स्वरूप), उन दोनों दीपकों में अलक्ष्य का ही प्रकाश है। उसी एक ज्योति से तीनों लोक व्याप्त हैं। उस ज्योति पर विचार करने से तीनों लोक सूझने लगते हैं, त्रिलोकदर्शिता आती है। हंस स्वरूप आत्मा ज्ञानरूप मोतियों को चुगने लगती है तथा उसे माणिक्यरूप कैवल्यानुभूति हो जाती है।[4]

संतों की ब्रह्म जिज्ञासा में नाथपंथी साधकों की ब्रह्म जिज्ञासा के अनेक

---

1. गोरखबानी, पृ0 29
2. बिरला जाणंति भेदां निभेद बिरला जाणंति दोई पष छेद।
   बिरला जाणंति अकथ कहानी बिरला जाणंति सुधि बुधि की बांधी।
   — गोरखबानी, पृ0 24
3. बास सहेती, सब जग बास्या, स्वाद सहेता मीठा।
   साथ कहूँ तो सतुगुर मांने रूप सहेता दीठा।। — गोरखबानी, पृ0 10
4. गोरखवानी, सबदी 5, पृ0 3

चिह्न अपने मूलरूप में विद्यमान प्रतीत होते हैं यद्यपि साधनापंथीं में मध्ययुग के उत्तरार्द्ध में आध्यात्म सम्बन्धी विचारों में विस्तार हुआ है। संतों द्वारा प्रतीक योजनाओं के माध्यम से अनेक रूपकों में परमात्मा, आत्मा, माया जगत सभी पर विचार किया गया है। संतों की ब्रह्म जिज्ञासा पर विचार करने के पूर्व हमें उस काल के धार्मिक वातावरण और आध्यात्म प्रधान चिन्तन की लौकिक परिस्थिति को पृष्ठभूमि के रूप में पुनः रखना होगा। यहाँ देखा है कि नाथपंथी योगी अपने ब्रह्मज्ञान का आधार सीधा वेदान्त सम्मत ज्ञान मानकर अपने साधना पंथ को उसका मुख्य माध्यम मानते हैं। ब्रह्म ज्ञान उसे नहीं प्राप्त हो सकता जिसे अपनी काया का ज्ञान नहीं और जिसकी काया ही शुद्ध नहीं है उसके लिए यह सब निरूपलब्ध वस्तु है। कालान्तर में यह साधना एकांकी और व्यक्ति प्रधान हो गयी, संतों की ब्रह्मभावना के अनेक तत्व यद्यपि नाथपंथी तत्व चिन्ता में मिलते हैं किन्तु संतों की भावना और नाथपंथी साधकों की भावना में एक विस्तार का भेद दृष्टव्य होता है। संतों की आध्यात्मिक क्षुधा और आकांक्षा विश्वग्रासी है, उसमें सब साधनाओं एवं धर्म, मतों तथा दर्शनों के समन्वय का आग्रह है।[1] संतमत के प्रवर्तक कबीर के ब्रह्मनिरूपण वैदिक ब्रह्मनिरूपण के ढंग का होने पर भी अनेक धर्मों की ब्रह्म भावनाओं से प्रभावित है। जहाँ पर उन्होंने उपनिषदों की ब्रह्म निरूपण की विविध शैलियों को अपनाया है वहीं उन्होंने योगियों के द्वैताद्वैत विलक्षण वाद के ढंग पर भी ब्रह्म का वर्णन किया है। उनके ब्रह्मनिरूपण पर बौद्धों, सिद्धों और योगियों के शून्यवाद की धूमिल छाया भी देखी जा सकती है।[2] किन्तु अनेक धर्म साधनाओं के प्रभाव को मानते हुए भी यह नहीं कहा जा सकता है कि संतों की ब्रह्म जिज्ञासा का स्वरूप निश्चित ही पिछले आध्यात्मवादियों का केवल अनुकरण मात्र है। कबीर ने कहा है –

1. डा0 त्रिगुणायन, कबीर की विचारधारा, पृ0 179
2. वही, पृ0 179

जोगी गोरख गोरख करै, हिन्दू राम नाम उच्चरें
मुसलमान कहें एक खुदाई, कबीर का स्वामी घट–घट रह्या समाई।[1]

अनुभूति के माध्यम से सर्वात्म में व्याप्त ब्रह्मनिरूपण के लिए संतों ने उसकी व्यापकता और एकात्मता पर बल दिया है। उनकी दृष्टि में वह सगुण निर्गुण दोनों से परे परात्पर है। 'वह विश्व का कर्ता–धर्ता नियन्ता शासक और अधिपति ही नहीं बल्कि व्यापक तत्व भी है। वह घट–घट में, कण–कण में अणु–परमाणु में व्याप्त है और वही हम में सार वस्तु है।[2] कबीर ने कहा है –

मुसलमान का एक खुदाई। कबीर का स्वामी रह्या समाई।

दादू ने उसकी व्यापकता को इस प्रकार अंकित किया है –

धीव दूध में रमि रहा, व्यापक सब ही ठौर।[3]

इस सार सत्ता का अनुसंधान संतों के लिए सत्य का अनुसंधान बन गया, यद्यपि गुरु की कृपा से उन्हें उसका आभास हुआ किन्तु अनुभव के अनुसार ही वह ग्रहणीय बन सका।[4] कबीर ने स्पष्ट शब्दों में कहा है :

खालिक खलक, खलक में खालिक, सब घट रह्या समाई।

परमात्मा विश्व में और विश्व परमात्मा में अवस्थित है। डा0 त्रिगुणायन ने कबीर की ब्रह्म जिज्ञासा का विवेचन करते हुए एक स्थल पर प्रकट किया है कि कबीर ने ब्रह्म की आदि भौतिक और आदि वैदिक भावना त्याग कर आध्यात्मिक भावना को ही आश्रय दिया था।[5] हमारा उसी के साथ यह भी अनुमान है कि संतों की ब्रह्म जिस

---

1. कबीर ग्रन्थावली, पृ0 200
2. डा0 पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल, हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय
3. गोरखबानी, भाग 1, पृ0 32
4. सतगुरु तसु करयो विचार, मूल गह्यो अनमैं विस्तार– कबीर ग्रन्थावली, पृ0 216
5. डा0 त्रिगुणायन, कबीर की विचारधारा, पृ0 179

नाथपंथी साधना की क्रोड़ में निर्गुण पंथ का गठन हुआ वह अद्वैत प्रधान आध्यात्मिक धारा असमन्वयवादी और शुष्क थी, उसके विपरीत संतों ने जिस ब्रह्म भावना का आश्रय लिया वह उनके अनुभव की सच्च अनुभूति थी। डा० विश्वनाथ प्रसाद ने एक प्रसंग में इसकी चर्चा करते हुए लिखा है कि निर्गुण संत 'सत' (सतय) के उपासक थे और सत्य में पूरी आस्था रखते हुए इसी के अनुसन्धान में अपने जीवन को लीन कर चुके थे।[1] संतों की ब्रह्म जिज्ञासा दादू के शब्दों में अत्यन्त विराट सागर की विशालता के समान है जिसके लिए ऐसा कोई पात्र ही नहीं बना जो उसे पूरा अपने में समेट सके –

चिड़ी चोंच भर ले गयी नीर निघट न जाई।

ऐसा वासण न किया सब दरिया माहिं समाई।।[2]

'यह व्याप्ति इतनी गहन है कि व्यापक और व्याप्त में कोई अंतर ही नहीं रह जाता।[3] इस व्याप्ति में जिसमें एक सत्य को जान लिया उसे फिर भटकने की आवश्यकता नहीं है –

एक एक जिनि जाणियां तिनहीं सच पाया।

प्रेम प्रीति ल्यौलीन मन, ते बहुरि न आया।।[4]

संतों की यह ब्रह्म जिज्ञासा अनुभवैकगम्य है, उसी को गूँगे का गुड़ कहा गया है, वह पुस्तकीय विद्या से प्राप्त नहीं हो सकता, वह प्रेम से प्राप्त है। कबीर ने कहा है –

अकथ कहानी प्रेम की कछु कही न जाई।

गूँगे केरी सरकरा बैठे मुसुकाई।।[5]

---

1. निर्गुण काव्य दर्शन, प्राक्कथन, पृ0 क
2. वानी (ज्ञान सागर), पृ0 63
3. डा0 हजारी प्रसाद द्विवेदी, हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय, पृ0 100
4. कबीर ग्रन्थावली, पृ0 129
5. कबीर ग्रन्थावली, पृ0 156

भक्ति और योग के समन्वय से संतों की यह भावना अपने जिस रूप में हिन्दी काव्य में प्रकट हुई वह न तो नाथपंथी ब्रह्म जिज्ञासा का अनुकरण है और न वैष्णव भक्ति भावना का वेदान्ती स्वरूप। उसका स्वरूप दोनों के समन्वय से निर्मित हुआ है। इसी पृष्ठभूमि में संतों द्वारा ब्रह्म, जीव और जगत के सम्बन्ध में जो विचार प्रगट किये गये हैं उन पर विचार करेंगे।

ब्रह्म अथवा परमतत्व – परमतत्व की अभिव्यक्ति एक दुर्लभ कार्य है। संतों ने इस बात को स्वीकार किया है कि वह जैसा कहा जाता है वैसा ही उसका पूर्वरूप में भी होना सम्भव नहीं है, वह जैसा है वैसा ही है।[1] वास्तव में परमतत्व का कोई उपयुक्त विचार ही नहीं कर सकता। वह वाणी और बुद्धि दोनों की सीमा से परे है। गुरु नानक ने कहा है –

सोचे सोच न होबई जै, सोचे लखवार।[2]

कबीर ने परमतत्व के अनुभव को बड़े असमंजस के मध्य अपने अनेक पदों एवं साखियों में व्यक्त करने का प्रयत्न किया है। उन्होंने कहा –

जस तूं तस तोहि कोई न जान।
लोग कहें सब आनहि आन।।[3]

संतों ने कभी–कभी उसे व्यक्त करने के लिए अनेक प्रकार की रूपात्मक तथा गुणात्मक चेष्टाएँ की हैं किन्तु फिर भी उन्हें उसमें सफलता नहीं मिली। नाथपंथियों के, वज्र की विलक्षण अनुभूति भी संतों में हूबहू मिल जाती है पर वहाँ भी उनके समाधान का पूर्ण कारण उपलब्ध नहीं है। वे कहते हैं –

---

1. जस कहिये तस होत नहीं, जस है तैसा सोई।
   कहत सुनत सुख ऊजै, अस परमारथ होई।। – कबीर ग्रन्थावली, रमैणी पृ0 230
2. ग्रन्थ, पृ0 1
3. परशुराम चतुर्वेदी, कबीर साहित्य की परख, पृ0 91

अलख निरंजन लखै न कोई। निरभै निराकार है सोई।।
सुंनि अस्थूल रूप नहिं रेखा। द्रिष्टि अद्रिष्टि छिप्पी नहीं पेखा।।
बरन अवरन कह्यों नहीं जाई। सकल अतीत घट रह्यो समाई।।
आदि अंति ताहि नहीं ममे। कह्यो न जाई आहि अकथे।।
अपरम्पार उपजै नहीं विनसै। जुगति न जांनिये कथिये कंसे।।[1]

संतों की वाणियों में मिलने वाले ब्रह्म के दो रूप बहुत स्पष्ट है – (1) अव्यक्त रूप, (2) व्यक्त रूप। संतों का प्रतिपाद्य ब्रह्म मुख्य रूप से अव्यक्त ही है यद्यपि गुण एवं उपाधि से विभूषित भावना निर्मित ब्रह्म का व्यक्त रूप भी उनकी वाणियों में उपलब्ध हो जाता है। अव्यक्त ब्रह्म की सार सत्ता के विषय में आध्यात्मिक विचारकों की अभावात्मक पद्धति अति प्राचीनकाल से उपलब्ध है। इन्द्रियों से अगोचरकों की अभावात्मक पद्धति अति प्राचीनकाल से उपलब्ध है। इन्द्रियों से अगोचर इस परमतत्व का अन्वेषण अथवा अव्यक्त सत्ता का विचार नकारात्मक अभिव्यक्त रूप में भी मिलता है। जब इस परमसत्ता का कोई वर्ण, कोई रूप, कोई रंग नहीं है; न वह हलका है और न भारी तब यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि इस अव्यक्त ब्रह्म की पहचान क्या है?[2] इस सम्बन्ध में संत कबीर का प्रश्न दृष्टव्य है :

रावर को पिछवार कैं गावैं चारिउ सैन।
जीवन परा बहु लूट में न कुछ लेन न देन।।[3]

कबीर ने एक स्थल पर यह भी जिज्ञासा प्रकट की है कि परमतत्व कुछ

---

1. कबीर ग्रन्थावली, रमैणी, पृ0 230
2. रूप वरण बाके कछु नाही सहजो रंग न देह, सहजो0 सं0 का संग्रह, पृ0 16 तोल न मोल माप किछु नाहीं गिनै ज्ञान होई।
   ना सो भारा ना सो हलुआ, ताकी पारिख लखै न कोई।।– कबीर ग्रन्थावली, पृ0 144
3. बीजक, पृ0 488

है भी अथवा नहीं?[1] वस्तुतः ब्रह्म की अव्यक्त सत्ता का कोई नाम नहीं, कोई रूप नहीं और न कोई गुण ही है, किन्तु फिर भी वह घट–घट में व्याप्त है। दादू उस अव्यक्त ब्रह्म को बाहर और भीतर, प्रत्येक दिशा में देखते हैं, उसको छोड़कर दूसरा कुछ है ही नहीं।[2] संतों ने इस अव्यक्त ब्रह्म को अनेक माध्यमों में व्यक्त करने का प्रयत्न किया है। संक्षेप में संतों का ब्रह्मनिरूपण निम्नलिखित रूपों में उपलब्ध होता है :

नाम – इस अपरम्पार अव्यक्त परमत्तव का यद्यपि कोई एक नाम नहीं हो सकता तथापि उसके अनेक नाम है :

अपरम्पार का नाऊँ अनंत।
कहै कबीर सोई भगवंत।।[3]

संतों ने ब्रह्म के सम्बन्ध में पर्याय रूप में प्रचिलत अनेक नामों को अपनी वाणियों में अपनाया है किन्तु अव्यक्त सत्ता के अद्वय बोध के फलस्वरूप लोक प्रचलित पौराणिक नामो। एवं संतों के नामों के सम्बन्ध में कोई एकरूपता उपलब्ध नहीं है। प्रायः संतों ने राम, हरि, अलक, माधव, मुरारी, गोपाल, बनवारी, केसवा का नाम ब्रह्म के अव्यक्त रूप में प्रयुक्त किया है। साथ ही वे उसे तत्,, परमतत्, अनूपतत्, आप, सबद, सार, सहज, मुनि अनंत ज्योति गगन, अकुल, अक्षय, विदेह, पूरन पुरूष, साहब आदि के नाम से भी सम्बोधित करते हैं।[4] तब यह प्रश्न उठना स्वास्भाविक है कि मध्ययुग के अन्य भक्त कवियों ने परमतत्व के जिस नाम के स्मरण करने पर बल दिया है, क्या वहीं निर्गुण संतों का भी आधार तो नहीं है? यह प्रायः सभी विद्वान मानते हैं कि मध्ययुग में स्वामी रामानन्द के प्रभाव से राम–नाम की महिमा और राम–भक्ति का प्रादुर्भाव हुआ। किन्तु

---

1. तहां किछ आहि कि सुन्यं, कबीर ग्रन्थावली, पृ0 143
2. दादु देखों दयाल को बाहरि भीतरि सोई।
   सब दिसि देखों पीव को, दूसर नाहीं होई। –वानी भाग, 1 पृ0 23
3. कबीर ग्रन्थावली, पद 327, पृ0 99
4. कबीर ग्रन्थावली, रमैणी, पृ0 243

संतों ने राम अथवा अन्य नामों को अव्यक्त ब्रह्म का पर्याय ही माना है। दशरथ राम के प्रति संत कबीर की ये घोषणा उन्हें तत्कालीन रामभक्तों से पृथक कोटि का साधक ठहराती है :

दशरथ सुत तिहूँ लोक बखाना।
राम–नाम का मरम है आना।।[1]

तब संतों के राम–नाम का मर्म क्या है? संतों ने अनेक स्थल पर जिन पौराणिक ईश्वर पर्याय नामों का स्मरण किया है क्या वे अन्य भक्तों की भाँति उनकी सगुण सत्ता अथवा अवतार रूप को मानते हैं? प्रायः संतों की वाणियों में ऐसा प्रतीत होता है कि अवतारवादी रूप की स्पष्ट अवहेलना की गयी है। यदि हम विस्तारपूर्वक देखें तो इसका कारण यह प्रतीत होगा कि संतों ने अपने ब्रह्म सम्बन्धी स्वरूप का मूलस्रोत नाथपंथी ब्रह्म की ज्योतिर्मयी अनुभूति ही माना है। परब्रह्मा का अनंत तेज वर्णनातीत है।[2] किन्तु फिर भी उसका नाम स्मरण युगानुरूप भक्ति की एक अनिवार्य आवश्यकता है। लोक प्रचलित पौराणिक मतवाद के सगुण रूप से अपने पृथक करने के लिए ही कबीर आदि संतों ने मानों राम के नाम के साथ निर्गुण शब्द का प्रयोग किया प्रतीत होता है :

निर्गुण राम जपहुरे भाई। अविगति की गति लखी न जाई।।
चारिवेद जाके सुंमृत पुरांनां। नौ व्याकरना मरम न जांनां।।
सेसनाग जाके गरुड़ समाना। चरन कंवल कंवला तहिं जाना।।
कहै कबीर जाके भेदै नाहीं। निजजन बैठे हरि की छांही।।[3]

---

1. कबीर ग्रन्थावली, रमैणी, पृ0 243
2. (अ) शरीर सरोवर भीतर आछै कमल अनूप।
   पर ज्योति पुरूषौत्मो जाके रेख न रूप। – कबीर ग्रन्थावली, पृ0 327
   (ब) पारब्रह्म के तेज का कैसा है उन्मान। कहिबे कू शोभा नहीं देखा ही परवान।। – कबीर ग्रन्थावली, पृ0 12
3. कबीर ग्रन्थावली, पृ0 346

अथवा

चलुरे मन, जहाँ अमृत बनां। निर्मल नीके संत जनां।

निर्गुण नांऊँ फल अगम अपार। संतन जीवन प्राण अधार।।[1]

नाम की दृष्टि से परमतत्व के क़िसी नाम विशेष के प्रति संतों का आग्रह प्रतीत नहीं होता। किसी भी नाम को लेकर वे उसमें अव्यक्त ब्रह्म की सत्ता का आरोप कर लेते हैं। यद्यपि सत्संग लाभ में उपलब्ध पौराणिक नामों की क्रमबद्धता से उनका दृष्टि भेद होना स्वाभाविक है तब भी संतों की वानियों में पौराणिक नामों का प्रयोग मिलता है और यही कारण है कि लोक जीवन में एक ऐसी स्थिति उत्पन्न हो जाती है जिसके विषय में साधारण जन उसके सम्बन्ध में अपनी कोई धारण नहीं बना सकते, चाहे परमतत्व का नाम बोध निर्गुण से, राधास्वामी से, अनूप से, साहब से, राम से, केशव से या किसी और से किया गया हो। संतों ने परमतत्व के नाम को केवल सार सत्ता के रूप में स्वीकार किया है। कबीर ने कहा है :

कबीर कहै मैं कथि गया, गथि गया ब्रह्म महेस।

राम नाम ततसार है, सब काहू उपदेश।।[2]

लोक जीवन में सारतत्व के रहस्य को जानने वाले बिरले ही हैं। व्यक्त अव्यक्त ब्रह्म की दुरूह एवं परस्पर विरोधी अनुभूति के कारण परमतत्व का विचन गुण और रूप के आधार पर भी होता रहा है, यद्यपि नाम का सम्बन्ध प्रायः उसके रूप गुण से है। संतों के आध्यात्मिक विचारों में गुण और रूप का प्रादुर्भाव नाम के पश्चात की स्थिति में हुआ प्रतीत होता है। मध्ययुग के संतों की विलक्षणता अथवा दूसरे छोर का स्पर्श उनकी वाणियों को, उनके आध्यात्मिक विचारों को अटपटे रूप में प्रस्तुत करता है

---

1. दादू दयाल, संत सुधासार, पृ0 437
2. कबीर ग्रन्थावली, पृ0 5

और कभी–कभी उनके आध्यात्मिक विचारों को इसी कारण विद्वान उलझा हुआ मानते हैं। 'निर्गुणं' ब्रह्म के उपासक कबीर को सम्भवतः इसी कारण 'अव्यक्त सगुण'[1] का उपासक भी कुछ विद्वानों ने माना है जो पूर्व परम्परा से पोषित प्रतीत नहीं होता है। नाथपंथी आध्यात्मिक धारा में ब्रह्म के गुण और रूप का प्रायः अभाव है। केवल उसकी अनुभूति के लिए कुछ सीमित शब्दों जैसे अकल, अपै अविद्ध आछै, ब्रह्म सीव आदि का प्रयोग किया गया है।[2] ब्रह्म के गुण और रूप को लेकर स्वामी शंकराचार्य के विरोध में जब अनेक दार्शनिक सम्प्रदाय उठ खड़े हुए तब भक्ति की धारा में भी उस गुण और रूप का प्रादुर्भाव होना स्वाभाविक था, चाहे भक्ति से दर्शन के सम्प्रदाय प्रभावित हुए हों अथवा दर्शन सम्प्रदायों से भक्ति प्रभावित हुई हो, दृष्टव्य केवल इतना ही है कि संतों द्वारा प्रकट अव्यक्त ब्रह्म की अनुभूति का निकट सम्बन्ध भारतीय अद्वैतवाद के अव्यक्त ब्रह्म और अपने पूर्ववर्ती योगी साधकों – नाथपंथियों– से था, यदि यह भी कहा जाय कि ब्रह्म के तत्वचिन्तन का स्रोत नाथपंथी अद्वैय आध्यात्म तत्व था तो कोई अत्युक्ति न होगी। किन्तु इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं है कि संतों की वानियों पर तत्कालीन भक्तिधारा का प्रभाव नहीं पाया और उनके आध्यात्मिक विचार अपने गुणात्मक और रूपात्मक स्थिति में उनसे प्रभावित नहीं हुए, संतों में यह प्रभाव इतना अधिक है कि हम इसी कारण उन्हें किसी विशेष मध्ययुगीन दार्शनिक सम्प्रदायों में नहीं बाँध सकते। संतों में नाम का उपर्युक्त आधार मानकर हम उनके आध्यात्मिक विचारों का यथावत विवेचन कर सकते हैं।

परमतत्व को निर्गुण अथवा सगुण रूप में अनुभव करने की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। हिन्दी के भक्त कवियों ने अत्यन्त प्राचीन धार्मिक स्रोतों में परमतत्व के निर्गुण और सगुण रूप की उपासना की है। संतों की वानियों में उपलब्ध विचारों के

1. डा0 त्रिगुणायन, कबीर की विचारधारा, पृ0 184
2. गोरखबानी शब्द संग्रह, पृ0 259, 263

आधार पर प्रायः यह अनुमान कर लिया जाता है कि संत ब्रह्म के सोपाधि और साकार रूप को नहीं मानते इसलिए निरूपाधि और निर्गुण रूप के उपासक हैं। यद्यपि संत निर्गुण और सगुण दोनों से पृथक परस्पर ब्रह्म की अनुभूति को ही मुख्य मानते हैं[1] फिर भी संतों द्वारा प्रयुक्त निर्गुण शब्द, ब्रह्म के गुणरहित और निष्क्रिय रूप का वाचक नहीं है। कुछ विद्वानों ने निर्गुणोपासक संत कबीर के राम के सम्बन्ध में यह शंका उठायी है कि कहीं कबीर के निर्गुण राम स्वामी शंकराचार्य के निर्गुण ब्रह्म की भाँति निष्क्रिय और निर्गुण तो नहीं हैं?[2] शंकराचार्य के ब्रह्म की स्थिति संत कबीर की स्थिति से समबद्ध नहीं हो सकती है। इस प्रबन्ध में इस विषय पर चर्चा करना उपादेय भी नहीं है किन्तु कबीर, दादू, रैदास आदि संतों ने जब भी ब्रह्म को निर्गुण रूप में व्यक्त किया है तब उसका आशय एक नकारात्मक प्रणाली का संकेत मात्र ही समझना चाहिए।[3] गुणों के रूप में भक्तों द्वारा जिस गुणमय शरीर की कल्पना कर ली गयी, संतों को वह मान्य नहीं है। सत, रज और तम के रूप में जिन तीन सूक्ष्म गुणों की कल्पना की गयी है, संतों का ब्रह्म उससे पृथक ही प्रतीत होता है। कबीर कहते हैं :

राजस तामस सातिग तीन्यूं, ये सब तेरी माया।
चौथे पद को जो जन चीन्हे, तिनहिं परमपद पाया।।[4]

---

1. संतो, धोख कासूँ कहिये।
   गुन में निरगुन निरगुन में गुन, बाट छोड़ि क्यों बहिये।।
   अजरा अमर कथै सब कोई, अलख न कथना जाई।
   नति स्वरूप वरण नहीं जाके घटि–घटि रह्यो समाई।।
   प्यंड ब्रह्माण्ड कथै सब कोई वाके आदि अरू अंत न होई।
   प्यंड ब्रह्माण्ड छोड़ि जे काह्य कहै कबीर हरि सोई।।
   — कबीर ग्रन्थावली, पद 180
2. डा0 ब्रजमोहन गुप्त, हिन्दी काव्य में रहस्यात्मक प्रवृत्तियाँ (हिन्दी अनुवाद), पृ0 43
3. डा0 पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय, पृ0 108
4. संतों की बानी, भाग 1, पृ0 53

यद्यपि संतों ने ब्रह्म के गुणों को अपनी वानियों में प्रयुक्त किया है और उसके अनुसार वह भक्तवात्सल, दीनदयाल, करूणामय, सर्वसुखदान, दुःख मंजन, परमानन्द, दुरित निकंदन और गरीबनवाज हैं।[1] किन्तु इसीलिये संतों की आध्यात्मिक धारा में हम उन्हें व्यक्त अथवा अव्यक्त सगुण के उपासक नहीं कह सकते।[2] संतों की दृष्टि में सगुण और अवतारी ब्रह्म के प्रति उपासना का भाव केवल वाह्य और ऊपरी व्यवहार है।[3] संतों द्वारा प्रयुक्त ब्रह्म के अनेक नाम इस तथ्य को स्पष्ट करने में सहायक होते हैं।

यहाँ पर एक भिन्न तथ्य पर विचार कर लेना भी उपयोगी होगा। जब हम संतों को निर्गुण ब्रह्म का उपासक मानते हैं तब कुछ विद्वानों ने ऐसी सम्भावना व्यक्त की है कि संत कवि मुस्लिम एकेश्वरवाद से प्रभावित थे[4] किन्तु एक ब्रह्म के उपासक संतों का मूल–स्वर इस बात को स्वीकार नहीं करता। सगुण अथवा मूर्ति पूजा के सम्बन्ध में आलोचनात्मक टिप्पणी करने वाले संत भारतीय ब्रह्मवाद के ही अनुयायी हैं। हिन्दू धर्म के वाह्य आडम्बर की भर्त्सना तो नाथपंथियों में भी किसी न किसी रूप में मिल जाती है। गौरखनाथ के नाम से प्रचलित एक कथन इस प्रकार है :

'सूर्य ग्रहण के समय मिट्टी के बर्तन और जलादि को अशुद्ध समझकर छोड़ देते हो किन्तु धान्य घृतादि को क्यों नहीं फेंक देते? बात यह है कि जलाशयों में जल तो मिल जाता है और कुम्हारों के घर मिट्टी के बर्तन भी मिल जाते हैं, फिर क्यों न इन्हें त्यागकर आचारवान बन लिया जाये। पर घी और धान्य खरीदने में तो बहुत पैसे लगते हैं फिर इन्हें कैसे अपवित्र मानते ?[5] किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि नाथपंथी

---

1. कबीर ग्रन्थावली, पृ0 153, 172, 164, 189, 125 आदि।
2. डा0 त्रिगुणायन, कबीर की विचारधारा, पृ0 184
3. कहै कबीर विचार कर, ये ऊले व्यवहार।
   याही के वे अगम हैं, सो बरति रह्यो संसार।। – कबीर ग्रन्थावली, पृ0 203
4. डा0 हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ0 117
5. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास।

भी किसी वाह्य प्रभाव के प्रतिफल थे। यह भारतीय लोकमानस का स्वाभाविक विकास ही माना जायेगा। कबीर तो अपने ब्रह्म को 'एक' भी कहना नहीं चाहते :

उक कहूँ तो है नहीं, दोय कहूँ तो गारि।
है जैसा तैसा रहे कहै कबीर विचारि।।[1]

परमतत्व यथार्थ में सगुण और निर्गुण दोनों से परे हैं सिद्धान्ततः हम संतों को न तो निर्गुणवादी ही कह सकते हैं और न सगुणवादी ही, उनके मतानुसार वे अनुभूतिपरक हैं, निर्गुण एवं सगुण दोनों से परे हैं। अनुभव के पश्चात भी अनिर्वचनीय हैं। इससे पृथक यदि हम ब्रह्म को किसी विशेष गुण से सम्बद्ध मान लें अथवा निर्गुण घोषित करें तो वह यथार्थ में एक भ्रम की ही स्थिति होगी।[2]

नाम और गुण के पश्चात् परमतत्व की रूपात्मक अनुभूति हुई है।

संत कवि उच्चकोटि के भक्त माने गये हैं किन्तु जब हम उनके आध्यात्मिक विचारों की चर्चा करते हैं तो उन्हें निर्गुण निराकार का उपासक मान कर ज्ञानाश्रयी संज्ञा से विभूषित कर देते हैं। जिस परमतत्व के नाम और गुणों की कोई सीमा न हो, संतों के लिए उसकी रूपात्मक अभिव्यक्ति तो और भी कठिन कार्य है। रूप से विद्वानों का तात्पर्य नेत्रों द्वारा गृहीत गुण से है।[3] नेत्रों द्वारा गृहीत गुण प्रायः आकार से सम्बद्ध होते हैं, पर संत तो निराकार के उपासक हैं :

निश्चल निराकार अज अनुपम, निरभय गति गोविंदा।
अगम अगोचर अच्छर अतरक, निरगुन अंत अनंदा।।[4]

किन्तु निराकार के उपासक संत जब अपना आत्म–निवेदन व्यक्त करते

---

1. डा0 पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय, पृ0 107
2. कबीर ग्रन्थावली, गुण निर्गुण जहँ राखिये, दादू घर बन माहिं, पृ0 149, दादू संत काव्य, पृ0 29
3. नाथ पंथ और निर्गुण संत काव्य पृ0 217
4. रैदास, संत–काव्य, पृ0 213

हैं तब यह अनुमान बहुत तर्कपूर्ण नहीं प्रतीत होता कि वे निराकार के उपासक होकर भी ऐसी विह्वल स्थिति प्राप्त कर लेते हैं।[1] संतों का परमतत्व न रूप है और न अरूप, वही एकमेव है। वह सूक्ष्म है पर सर्वव्यापी भी है, विश्व के अणु–परमाणु में उसका विस्तार है, सम्पूर्ण जड़–चेतन उसके अरूणिम तन्तु से बँधे हुए हैं। वह 'पुहुपवास' से भी पतला है[2] और उसके रूप को भी कोई नहीं जानता :

आपणें रूप कौं आपहिं जाणैं, आपैं रहे अकेला।[3]

किन्तु ब्रह्म के वेदान्ती रूप से पृथक होकर संतों ने उन्हें भक्त के भगवान के रूप में देखा है, यह तथ्य भी उपेक्षणीय नहीं है। सगुण भक्तों ने ब्रह्म के रूपात्मक तत्व को लेकर उसकी लीलाओं का विस्तार किया है, वे ब्रह्म के विशेषरूप (जिसमें व्यक्तिगत स्मबन्ध की कल्पना की जा सके) को प्रधानता देते हैं, किन्तु रूपात्मक दृष्टि से निर्गुण संतों ने ब्रह्म के निर्विशेष रूप को प्रधानता दी है।[4] जब केवल वही एक तत्व है तब उसका विशेष रूप क्या हो? जो उसमें लीन हो गया उसने सुख सागर प्राप्त कर लिया :

लीन निरंतर बपु विसराया। कहै कबीर सुख सागर पाया।।[5]

उसके रूप का परिचय नाम से भी सम्भव नहीं है संत उसे आत्मा में देखते हैं :

जहँ आतम तहँ राम है सकल रह्या भरपूर।[6]

---

1. नरहरि चंचल है मलि मोरी।
कैसे भगति करूँ मैं तेरी।।
तू मोहि देखै, हों तोहि देखूँ, प्रीत परस्पर होई।
तू मोहि देखै, मैं तोहि न देखूँ, यह मति सब धुधि खोई।। –रैदास बानी, पृ0 7
2. पुहुप बास से पातरा, ऐसा तत्व अनुप। – कबीर
3. कबीर ग्रन्थावली, पृ0 140
4. डा0 हजारी प्रसाद द्विवेदी, हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ0 80
5. कबीर ग्रन्थावली, पृ0 136
6. कुछ नाहीं का काम धरि, भरया सब संसार।
सांच झूँठ समझे नहीं, ना कुछ किया विचार।। – दादू

संतों ने ब्रह्म की व्यापकता और सूक्ष्मता में विश्वास रखते हुए भी उसकी दिव्य अनुभूति को अनेक रूपों में व्यक्त किया है। कहीं वह पीव है[1], कही भरतार है और कहीं पुरुष। ब्रह्म के गुणों को अपनी आत्मानुभूति से जो रूपात्मकता संतों ने प्रदान की है वह सगुण भक्त कवियों से पृथक कोटि की होती हुई भी भक्ति के क्षेत्र में नवीन नहीं है।

उपर्युक्त संदर्भ से यह स्पष्ट है कि संतों की आध्यात्मिक पृष्ठभूमि में जहाँ ब्रह्म का नाम नाथपंथी साधकों की परम्परा का पोषक है वहाँ उसकी गुणात्मक और रूपात्मक अभिव्यक्ति वैष्णव भक्तों की प्रेम साधना का एक अंक है। किन्तु संतों की यह अभिव्यक्ति एक भिन्न कोटि की अभिव्यक्ति है। संतों के ब्रह्मनिरूपण में सूफी अथवा एकेश्वरवाद का कोई विशेष प्रभाव नहीं मिलता, परिस्थितिजन्य शब्द प्रयोगों एवं प्रभावों की बात भिन्न है। वास्तव में बह्म ही परिपूर्ण रूप में इस सृष्टि में व्याप्त है।[2]

वास्तव में कबीर साहब की विचार पद्धति की भित्ति स्वानुभूति पर ही खड़ी है और इसी कारण ये जहाँ कहीं भी अवसर पाते हैं, वहाँ निजी अनुभव के महत्व का गान करते नहीं उघाते और न कभी परावलंबन द्वारा प्राप्त तताकथित ज्ञान की निंदा करने से ही चूकते हैं। इन्होंने जिस प्रकार उस परमात्मा को 'जल' व –रामजल' कहने मात्र से इसका सहज स्वरुप भौतिक जलतत्व नहीं समझा जा सकता, उसी प्रकार उसे ही अन्यत्र इनके –राम' शब्द द्वारा अभिहित करने से प्रसिद्ध अवतार दशरथी रामचन्द्र का बोध नहीं हो सकता और न हम उसे कहीं अन्य स्थल पर इनके 'ब्रह्मा' कह देने मात्र से ही निर्गुण परमात्मा तत्व मान सकते हैं।[3] वह इनके अपने निजी अनुभव की वस्तु है

---

1. (अ) राम मेरी पीव, मैं पीव की बहुरिया, (आ) कबीर ग्रन्थावली, पृ0 87
2. कबीर साहित्य की परम, खालिक खलक, खलक में खालक, पूर रह्यो सब ठाई, पृ0 93
3. कबीर साहित्य की परम, खालिक खलक, खलक में खालक, पूर रह्यो सब ठाई, पृ0 93

जिसे ये स्वभावतः दूसरों को पूर्ण रूप से समझा नहीं पाते और इन्हें विवश होकर इसे रहस्यमय एवं अकथनीय तक कह देना पड़ता है। वह इनकी अपनी 'भीतर की चीज' है जो पहले इन्हीं के हृदय में एक तीव्र जिज्ञासा के रूप में इन्हें बैचेन किये हुए थी और वह फिर जैसे परिवर्तित सी होकर इन्हें पूर्ण शान्ति प्रदान कर रही है। अब इनकी अपनी ज्वालामयी वेदना की शीतल जल की भाँति अनुभूत हो रही है और इनका 'मन मान गया' है। "आग बुझ गयी है, पर ये अपने उक्त अनुभव विशेष का चित्रण उसी रूप में 'बाहर' करने में असमर्थ है।"[1] इनके अनुसार इस अनुभव की कथा किसी के भी द्वारा कही नहीं जा सकती। "जिसके भीतर यह 'सहजभाव' से उत्पन्न होता है, वह उसमें रमण करता हुआ उसी में लीन हो जाता है।"[2]

इस प्रकार कबीर साहब के अनुसार धर्मतत्व का वास्तविक रुप सामूहिक व साम्प्रदायिक न होकर व्यक्तिगत ही हो सकता है और इसी कारण प्रत्येक व्यक्ति के लिए सत्य स्वरुप का ज्ञान भी केवल उतना ही हो सकता है जितना उसके किसी निजी अनुभव में आ सके। वेद, कतेव व अन्य मान्य ग्रन्थ उनके रचयिताओं के अपने अनुभव विशेष पर ही अवलंबित है और वे भी उसी हद तक प्रमाण माने जा सकते हैं। यदि किसी अन्य व्यक्ति के भी विचारपूर्ण अनुभव में ठीक वैसी ही बातें आ सकें, तो कोई हानि नहीं, किन्तु कोरे अंधविश्वास के बल पर उन्हें वैसा मान बैठना अपने साथ भी छल व धोखा करने के समान है। कबीर सहाब पूर्ण सत्य को पूर्ण रूप में जान लेने का स्वयं कहीं भी दावा नहीं करते और न दूसरों द्वारा ऐसा किया जाना ये पसंद ही करते हैं। इनके मतानुसार "वह जैसा वस्तुतः हो सकता है, वैसा किसी को भी ज्ञात नहीं। सब अपनी अपनी पहुँच के आधार पर ही कुछ कहा करते हैं। वह जैसा है वैसा उसे ही विदित है,

---

1. कबीर ग्रन्थावली, सा0 31, पृ0 14
2. वही, पद 14, पृ0 13

वही केवल है ही, अन्य कुछ है ही नहीं।"[1] "जैसा कहा जाता है, वैसा ही उसका पूर्ण रूप में होना संभव नहीं, वह जैसा भी हो, रहा करे, हमें उसकी आवश्यकता नहीं, हमें तो केवल अपनी पहुँच भर उसे जानकर ही आनन्द में मग्न होना है।"[2] वह जिस किसी भी व्यक्ति के अनुभव में जिस प्रकार अपने को व्यक्त कर उसे अनुप्राणित करता है, उसी प्रकार वह उसका वर्णन किया करता है।"[3] और जो जैसा उसे जानता है उसी के अनुसार उसे लाभ भी होता है।"[4]

सारांश यह है कि यद्यपि सत्य के वास्तविक स्वरूप के विषय में किए गये वर्णन अतः अपूर्ण ही कहे जा सकते है, किन्तु उनके आधार भूत निजी अनुभव का धार्मिक दृष्टि से बहुत बड़ा महत्व है। सन्त कबीर साहब ने अपने विषय में ठीक ही कहा है कि "सद्गुरु ने मुझे तत्व की ओर विचारपूर्वक सकेत कर दिया है और मैंने उसे अपने अनुभव के अनुसार ग्रहण कर लिया"।[5] "तथा अपने अनुमान के अनुसार ही स्मरण करते हुए मैंने राम को कुछ हद तक जान लिया।"[6] वह 'अनुभूत', 'अविगत', 'आगम', व 'अकलप' तो है ही, जहाँ तक अपने अनुभव के भीतर आ सका वहाँ तक भी उसे 'अनुपम', 'निराला', 'अकथ', 'अगोचर' ही इन्हें कहना पड़ा। उसे निजी अनुभव द्वारा आत्मसात् कर लेने पर जो दशा हो जाती है, उसका भी वर्णन करने में ये अपने को असमर्थ पाते हैं। ये कहते हैं कि उस समय मेरे हृदय–स्थित 'त्रिभुवन राई' ने मेरे शरीर में 'अग्नि कथा' ला दी अर्थात् एक विचित्र स्थिति उत्पन्न कर दी।"[7] जिस प्रकार पानी से हिम बनकर फिर हिम पानी में ही परिवर्तित हो जाता है, उसी प्रकार में जो कुछ पहले था वही फिर से हो गया,

---

1. कबीर ग्रन्थावली, पद 47, पृ0 103
2. वही साखी 2, पृ0 230
3. वही रमैनी 3, पृ0 230
4. वही साखी 21, पृ0 6
5. वही पद 386, पृ0 216
6. वही रमैनी 4, पृ0 2341
7. वही, साखी 17, पृ0 14

अब उसे क्या कहा जा सकता है।[1] "उस समय जैसी शोभा का मैंने अनुभव किया वह वर्णन करने योग्य नहीं, वह शोभा देखकर ही समझी जा सकती है।"[2] मैंने अविगत, अकल व अनूपम को देखा जिसका वर्णन यदि करना चाहूँ तो मैं उसी प्रकार नहीं कर सकता जिस प्रकार कोई गूँगा व्यक्ति मिठाई का स्वाद पाकर उसका माधुर्य किसी दूसरे पर प्रकट नहीं कर सकता, बल्कि मन ही मन आनन्दित होता हुआ सैन का संकेत मात्र करके रह जाता है।"[3] "अपनी स्वप्न जैसी स्थिति में मैंने उस निधि का जो 'भक्तिकंचित्' पाया, उसकी शोभा कहीं गुप्त रखने योग्य नहीं थी, वह अपार थी और अपने हृदय में मानो समा नहीं पाती थी। अव लोभ और अहंकार की प्रवृत्तियाँ आपसे आप नष्ट हो गयी।"[4]

तदनुसार कभी–कभी ये उसे 'गुनअतीत', 'गुनबिहून', 'निरगुन' व जिसे कोई लख नहीं सकता, वह निरमै व निराकार है, वह न शून्य है न स्थूल है, उसकी कोई रूपरेखा नहीं, वह न दृश्य है न अदृश्य है, उसे न तो गुप्त ही कह सकते हैं।"[5] इसी प्रकार ये, "उस 'अवगति' की गति क्या बतलाऊँ, जिसके नाम ग्राम का कोई ठिकाना नहीं, 'गुनबिहून' को कैसे देखा ही जा सकता है और उसका नाम ही क्या दिया जा सकता है"[6] भी कहते हैं।

सन्त कबीर साहब ने परमात्मा के रूप को विराट माना है। वह परमात्मा को सृष्टि की रचना करने वाला मानते है वे कहते हैं कि परमात्मा ही सृष्टि को गढ़ने वाला है, सुधारने वाला तथा वही नष्ट करने वाला भी है। ये उस परमात्मा को विराट रूप

---

1. कबीर ग्रन्थावली, साखी 17, पृ0 13
2. वही, साखी 3, पृ0 13
3. वही, पद 6
4. वही, रमैनी 4, पृ0 234
5. वही, रमैनी 5, पृ0 230
6. वही, रमैनी 5, पृ0 238

में देखते हैं और कहतें है कि 'करोड़ों सूर्य वहाँ प्रकाश करते हैं, करोड़ों महादेव अपने कैलाश पर्वत के सहित वर्तमान हैं, करोड़ों दुर्गायें सेवा करतीं हैं, करोड़ों ब्रह्मा वेद का उच्चारण करते हैं ....., करोड़ों चन्द्रमा वहाँ दीपक की भाँति प्रकाश कर रहे हैं और तेंतीस करोड़ देवता भोजन कर रहें हैं, नवग्रह के करोड़ों समूह उसके दरबार में खड़े रहते हैं और करोड़ों धर्मराज उसके प्रतिहारी स्वरूप है, करोड़ों पवन उसके चौबारों में घूम रहें हैं, और करोड़ों वासुकि उसकी सेज लगा रहें हैं, करोड़ों समुद्र उसके यहाँ पानी भर रहे हैं, और अठारहों करोड़ पर्व उसकी रोमावली बने हुए हैं, करोड़ों कुबेर उसका भण्डार भरते हैं और करोड़ों लक्ष्मियाँ उसका श्रृंगार करती हैं। पाप व पुन्य का हरण करने वाले करोड़ों इन्द्र उसकी सेवा में निरत हैं। उसके प्रतिहारियों की संख्या छप्पन करोड़ है और नगर–नगर में उसकी अपार रचना दीख रही है, वह मुक्तकेशी बनकर विकराल सी लक्षित होने वाली करोड़ों कलाओं के साथ क्रीड़ा करता है, करोड़ों संसार उसका दरबार बने हुए हैं और करोड़ों गंधर्व उसकी जय–जय मना रहे हैं। करोड़ों विधाएँ उसके गुणगान में लगी हुई हैं, किन्तु फिर भी उस परमात्मा का अन्त नहीं पाती है।'' ''अष्टकुल पर्वत उसके पग की धूलन हैं, सातों समुद्र उसके नेत्र के अंजन रूप है, अनेक मेरु पर्वत उसके नखों पर स्थित हैं और धरती व आकाश को उसने अधर में ही रख छोड़ा है। भला उसे केवल 'गोवर्धनधारी' मान कह देना कितने आश्चर्य की बात है।

ये इसी प्रकार कभी विष्णु के पौराणिक रूप की कल्पना करते हैं और कभी नरसिंह एवं कृष्णावतार की भी चर्चा कर जाते हैं। ये उस हरि की प्रशंसा करते नहीं उघाते और कहते हैं ''यदि सातों समुद्रों में स्याही घोल दी जाये, सभी जंगलों के पेड़ों की लेखनियाँ तैयार कर ली जाये और सारी पृथ्वी के कागज बनाकर उस पर लिखने लगे, तो भी उसकी गुणावली लिखी नहीं जा सकती।[1]

---

1. डा0 परशुराम चतुर्वेदी, उत्तर भारत की संत परम्परा, पृ0 188–196

नाथ पंथियों ने भी परमात्मा का स्वरूप निर्गुण माना है वे कहते हैं कि परमात्मा निराकार है उसका कोई स्वरूप नहीं है। मत्स्येन्द्रनाथ द्वारा अवतरित कौलज्ञान की आलोचना के प्रसंग में शेव सिद्धान्त के छत्तीस तत्वों का एक साधारण परिचय दिया जा चुका है। प्रलय काल में इन समस्त तत्वों को निशेषभाव से आत्मसात् करके शक्ति परम शिव में तत्वरूपा होकर अवस्थान करती है। इसलिए 'वामकेश्वरतंत्र' में भगवती शक्ति को "कवलीकृता निःशेषतत्व ग्राम स्वरूपिणीं" कहा गया है।

इस अवस्था में शिव में कार्य–कारण का कर्तव्य नहीं होता अर्थात् कार्य–कारण के चक्र के संचालन कर्म से विरत हो जाते हैं। वे कुल और अकुल के भेद से परे हो जाते हैं और अव्यक्तावस्था में विराजमान रहते हैं। इसलिए इस अवस्था में उन्हें शास्त्रकारगण 'स्वयं' कह कर स्मरण करते हैं।

इस परम शिव को जब सृष्टि करने की इच्छा होती है तो इच्छायुक्त होने के कारण उन्हें सगुण शिव कहा जाता है पहले बताया जा चुका है कि इच्छा शक्ति है अब इस अवस्था में परम शिव से एक ही साथ दो तत्व उत्पन्न होते हैं। शिव और शक्ति। वस्तुतः इन दोनों में कोई भेद नहीं है। यह शक्ति पाँच अवस्थाओं से गुजरती हुई स्फुरित होती है। (1) परम शिव की अवस्था–मात्र धर्म से मुक्त, स्फुरित होने की पूर्ववर्ती, और प्रायः स्फुरित होने को उपक्रान्त अवस्था का नाम 'निजा' है। इस अवस्था में शिव अपने अव्यक्त रूप में रहते हुए भी स्फरणोन्मुखी शक्ति से विशिष्ट होकर रहा करते हैं। शिव की इस अवस्था का नाम 'अपर' 'पदम' है। धीरे–धीरे शक्ति क्रमशः स्फुरण की ओर उन्मुख होती है, फिर (3) स्पन्दित होती है, फिर (4) सूक्ष्म अहन्ता से मुक्त होती है और अन्त में (5) चेतनशीला होकर अपने अलगाव के बारे में पूर्ण सचेत हो जाती है। ये अवस्थाएँ क्रमशः परा, अपरा, सूक्ष्मा और कुण्डली कही जाती है। इन अवस्थाओं में शिव भी क्रमशः परम, शून्य, निरंजन और परमात्मा के नाम से प्रसिद्ध होते हैं। इस प्रकार निखिलानन्द सन्दोह शिव पाँच अवस्थाओं से गुजरते हुए प्रथम तत्व परमात्मा या सगुण

शिव के रूप में प्रकट होतें हैं और शक्ति भी पाँच अवस्थाओं से अग्रसर होती हुई द्वितीय तत्व कुण्डली या कुण्डलिनी के रूप में प्रार्दूभूत हुई। यही कुण्डलिनी समस्त विश्व में व्याप्त शक्ति है, इसी की इच्छा से, इसी की सहायता से शिव इस विश्व प्रपच्च की उत्पत्ति पालन और विलय समर्थ होते हैं। यही परमात्मा और कुण्डली–शिव और शक्ति–प्रथम दो सूक्ष्म तत्व हैं। इन से ही अत्यन्त सूक्ष्म 'पर पिण्ड' की उत्पत्ति हुई है।[1]

गोरखबानी में कहा गया है कि –

वसती न सुन्यं, सुन्यं न बसती अगम अगोचर ऐसा।
गगन सिषर महि बालक बोले ताका नाषि धरहुगे कैसा।।[2]

(गोरखबानी 01)

सबदी के इस पद में यह कहा गया है कि परम तत्व तक किसी की पहुँच नहीं है। वह इन्द्रियों का विषय नहीं है। वह ऐसा है कि न उसे हम बस्ती कह सकते हैं (बस्ती) और न यह कि वह कुछ नहीं है (शून्य) । वह भाव तथा अभाव, सत् और असत् दोनों से परे हैं। विशेष जोर देने की दृष्टि से 'सुन्यं न बस्ती' कह कर इसी बात को फिर से दोहराया है। वह आकश मण्डल में बोलने वाला बालक है। (आकाश मण्डल में बोलने वाला इसलिए कहा है कि शून्य अथवा आकाश या ब्रहमारन्द्र में ब्रह्मा का निवास माना जाता है, वहीं पहुँचने पर ब्रह्मा साक्षात्कार हो सकता है। वहीं आत्मा को ढूढ़ना चाहिए बालक इसलिए कहा है कि जिस प्रकार बालक पाप पुण्य से अछूता है, उसी प्रकार परमात्मा भी। जरा मरण से दूर काल से अभ्रष्ट सतत् बाल स्वरूप जैसा ही योगियों का साध्य आदर्श है। इसलिए, –गोरख गोपाल', 'बूढ़ा वाले' कहे जाते हैं। उस परमात्मा का नाम ही कैसे रखा जा सकता है। (क्योंकि वह तो नाम और रूप दोनों परिधियों से परे हैं।[3]

---

1. डा0 हजारी प्रसाद द्विवेदी, नाथ सम्प्रदाय, पृ0 114, 115
2. गोरखबानी, पद 1
3. डा0 बड़थ्वाल, गोरखबानी, पृ0 1

गुरु गोरख द्वारा निर्दिष्ट निर्गुण व निराकार की उपासना भक्ति व प्रेम का आधार पाकर नाथपंथ आगे और भी लोकप्रिय बन गया है। जैसा कि शुरु में ही कहा गया है, कबीरदास उत्तम अधिकारी के लिए इस 'अवाङ मानस गोचर' परंब्रह्मा की उपसना को बहुत महत्व नहीं देते। परन्तु इस बात में खूब सावधान हैं, वे बार बार याद दिला देते हैं कि यह जो उपसना बताई जा रही है वह सगुण अवतार की नहीं है वरन् 'निर्गुण राम' की है। इस प्रसंग में कुछ वृद्ध पंडितों के विचारों की जानकारी आवश्यक है। उनके विचारों का सारांश यह है कि 'निर्गुण और सगुण' के विषय में जो विचार परम्परा पुराणवादियों और वेदान्तवादियों के देंखे जाते है, पग पग पर वे उसी का अनुसरण करते दृष्टिगत होते हैं। कोई पुराण ऐसा नहीं है जिसमें परमात्मा का वर्णन इसी रूप में न किया गया हो। पुराणों का सगुणवाद जैसा प्रबल है वैसा ही निर्गुणवाद भी। वे भी वेदान्त के भावों से प्रभावित है और वैष्णव पुराणों में उनका बड़ा ही हृदयग्राही विवेचन है। परन्तु, वे जानते हैं कि निर्गुणवाद के तत्वों को समझना कतिपय तत्वों का ही काम है, इसलिए उनमें सगुणवाद का ही विस्तार है, क्योंकि वह बोध–सुलभ है। बिना उपासना किये उपासक सिद्धि नहीं पाता। उपासना सोपान पर चढ़कर ही साधक उस प्रभु के सामीप्य लाभ का अधिकारी बना है जो ज्ञान–गिरा गोतीत है। उपासना के लिए उपास्य की प्रयोजनीयता अविदित नहीं। यदि उपास्य अचिन्तनीय अव्यक्त है अथवा ज्ञान का विषय नहीं तो उसमें भावों का आरोप नहीं हो सकता। ऐसी अवस्था में भक्ति किसकी होगी? प्रेम किससे किया जायेगा? और किनके गुणों का मनन चिन्तन करके मनुष्य अपनी आत्मा को उनन्त बना सकेगा? इन्हीं बातों पर दृष्टि रखकर परमात्मा के सगुण रूप की कल्पना है जो यह समझता है कि बिना एगुणोपासना किये हम परमात्मा के निर्गुण स्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर लेंगे वह उसी जिज्ञासु के समान है जो विश्व नियन्ता का तो परिचय प्राप्त करना चाहता है, किन्तु यह नही जानता कि जगत क्या है।

संत कबीर ने भक्त जन रूप पर महत्वपूर्ण जोर दिया है कबीर का लक्ष्य समस्त अस्थिर रूपराशि के भीतर से स्थिर अरूप परमात्मा की ओर इशारा करना अधिक रहा है। वे दस दिन के लिए अपनी नौबत बजाकर इस नगर और गली को हमेशा के लिए नमस्कार करके चल देने वालों को उस परमतत्व की बार–बार याद दिलाते हैं जो स्थिर है, शाश्वत है, रूपातीत है –

कबीर नौबत आपणीं, दिन दस लेहु बजाई।
ए पुर–पाटन ए गली, बहुरि न देखै आई।।1।।
जिनके नौबत बाजती, मैंगल बँधते वारि।
एकै हरि के नाव बिन, गये जन्म सब हारि।।2।।[1]

इस विनाश की दुनिया में एकमात्र अधिनाशी तत्व राम है। नष्ट होते हुए शरीर को अगर बचा लेना है तो इसी अविनश्वर की शरण जाओ नहीं तो इस कच्चे कुम्भ के फूटने में क्या देर है –

कबीर यह तन जात है, सकै तो लेह बहोड़ि।
नागें–हाथें ते गये, जिनके लाख–करोड़ि।।37।।
यहु तन काचा कुंभ है, चोट चहूँ दिस खाइ।
एक राम के नाँव बिन जदि पर लै जाई।।38।।[2]

परन्तु रूप और सीमा चाहे जितनी भी क्यों न हो, हम उनके द्वारा ही अरूप और असीम को पाने की ओर उन्मुख होते हैं साधक रूप और सीमा की सहायता से उस शाश्वत अरूप और परिव्याप्त असीम को देखना है, जो उसका चरम प्रातव्य है। कवि शब्द और अर्थ का सहारा लेकर अरूप रस की ओर उन्मुख होता है, कलाकार रेखा

1. कबीर ग्रन्थावली, पद 1, 2
2. वही, पद 37, 38

और रंग की सहायता से रूपातीत भाव की अभिव्यंजना करता है, और भक्त भी नाम और रूप की सीढ़ियों से ही उठकर अनाम और अरुण परमात्मा की झाँकी पाता है।

'गुण', 'निर्गुण' की विरोधी वस्तु नहीं है। निर्गुण परमात्मा क्या गुणों में नहीं है। यह जो धरती, आकाश, चन्द्र, तारे दिखाई दे रहे हैं वे क्या त्रिगुणात्मिका प्रकृति के विकार नहीं है और इसलिए क्या ये परमात्मा से खाली है? यह हो ही नहीं सकता सो ये लोग भोले ही हैं जो गुणों को निर्गुण के बाहर या विरूद्ध मानते हैं, वस्तुतः गुण से हम निर्गुण का अनुमान करते हैं। दूसरे शब्दों में रूप हमें अरूप की ओर उन्मुख कर देता है, सीमा असीम का सन्धान बताते है। गुण और निर्गुण केवल तारतम्य बताने के वास्ते हैं। जब कहा जाता है कि भगवान् गुणमय नहीं है तो उसका मतलब यही होता है कि जो रूप और सीमा हमें दिख रही है। वह अरूप और असीम को ठीक ठीक प्रकट नहीं कर सकती, भगवान न तो रूप ही है न उसके समान ही है। वह उससे अतीत है, परे है। 'निर्गुण' कहने से यदि यह अर्थ लिया जाता है कि वह दृश्यमान गुणों से बाहर है या विरूद्ध है, तो भ्रम है, धोखा है –

संतों, धोखा कांसूं कहिये
गुण मैं निरगुंण निरगुंण में गुण,
बाट छाँड़ि क्यूँ बहिये?
अजंरा–अमरा कनौ सब कोई,
अलख न कथणां जाई,
नाहिं सरूप,वरण नाहिं जाकै,
घटि घटि रह्यौ ममाई।।
प्यंड–ब्रह्मंड छोड़ि जो कनिये,
कहै कबीर हरि सोई।।

(क0ग्रं0 पद 180)

इसलिए परमात्मा को (वह) अद्भृत, अनुपम, रामतत्व कहकर बताया नहीं जा सकता। उसको सगुण निर्गुण में से किसी भी नाम से पुकार नहीं सकते, पर न तो परमात्मा सगुण वस्तु में अविधमान है और न निर्गुण वस्तु द्वारा असूचचितव्य। परमात्मा इन झमेलों से ऊपर है।[1]

कबीरदास की वाणी वह लता हे जो योग के क्षेत्र में भक्ति का बीज पड़ने से अंकुरित हुई थी। उन दिनों उत्तर के हठयोगियों और दक्षिण के भक्तों में मौलिक अन्तर था। एक टूट जाता था पर झुकता न था, दूसरा झुक जाता था पर टूटता न था। एक के लिए समाज की ऊँच–नीच–भावना मजाक और आक्रमण का विषय भी, दूसरे के लिए मर्यादा और स्फुर्तिका और फिर भी विरोधाभास यह कि एक जहाँ सामाजिक विषमताओं को अन्याय समझकर भी व्यक्ति को सबके ऊपर रखता था, वहाँ दूसरा सामाजिक उच्चता का अधिकारी होकर भी अपने को 'तृणादपि सुनीचेन' (तृणसे भी गया गुजरा) समझता था। योगी डटकर जाति–भेद पर आघात करता था, बाह्माचार और तन्मूलक श्रेष्ठता को फटकार बताता था, पर भीतर और बाहर योग–मार्ग का प्रत्येक अनुयायी अपने को समाज के अन्य निकृष्ट जीवों से श्रेष्ठ समझता था, दूसरों की बहिर्मुखी वृत्ति पर तरस खाता था, नाना प्रकार की पेंचीदी बातों से उसका मजाक बनाता था और आशा करता था कि लोग उसके अचरज–करिश्मे देखकर दाँतो–तले ऊँगली दबा लें। भक्त जाति–भेद, वर्णाश्रमत्यवस्था और ऊँच नीच मर्यादा को शिरसा स्वीकार कर लेता था, अपने को भवसागर में भटकता हुआ गुमराह प्राणी मानता था, अपनी पुरानी पाप–भावना के लिए बार–बार पश्चयाताप करता था और आशा करता था कि सर्वान्तर्यामी भगवान उसके हार्दिक अनुताप को जरूर सुन लेंगे और भवबन्धन से उसे मुक्त कर देंगे। एक को अपने ज्ञान का गर्व था दूसरे को अपने ज्ञान का गर्व था, दूसरे को अपने अज्ञान

1. डा0 हजारी प्रसाद द्विवेदी, कबीर, पृ0 116ए 117

का भरोसा, एक के लिए पिण्ड ही ब्रह्माण्ड था और दूसरे के लिए समस्त ब्रह्माण्ड भी पिंड, एक का भरोसा अपने पर था, दूसरे का राम पर, एक प्रेम को दुर्बल समझता था, दूसरा ज्ञान को कठोर, एक योगी था, दूसरा भक्त।

साधारण जनता में इन दोनों से दो प्रकार की प्रतिक्रिया हुई। एक ने श्रद्धालु गृहस्थ के चित्त में शंका का भाव पैदा कर दिया। वह सोचने लगा कि माया विकराल है, इससे छुटकारा पाना कठिन है, सिद्धि का मार्ग विघ्न संकुल है। योग–क्रिया'–हीन व्यक्ति की न जाने कौन–सी दुर्गति होगी, चौरासी लाख योनियों में न जाने वह कब तक भटकता फिरेगा। भवजाल विकट है, मायाचक्र अनन्त है, साधन–मार्ग दुरधिगम्य हे, विघ्नों की वाहिनी रास्ता रोके खड़ी है और गृहस्थ लाचार है। दूसरे (भक्त) ने उसे लापरवाह बना दिया। गलती से भी एक बार हरि नाम जिसने ले लिया उसे कुछ और करने की जरूरत नहीं, विष्णु का तिलक एक बार अगर सिर पर चढ़ गया तो बैकुण्ठ का दरवाजा खुला है, तुलसी की माला यदि किसी प्रकार मिल गई तो गोलोक में स्थान मिश्रित है। कलियुग सब युगों से अच्छा है, क्योंकि इसमें मानव–पाप का कुछ फल नहीं होता किन्तु मानस–पुण्य का पूरा फल मिलता है। राम का नाम राम से भी बड़ा है, भय की कोई जरूरत नहीं। योग ने गृहस्थ को जरूरत से ज्यादा श्रद्धालु बना दिया था, भक्ति ने पूरा आशावादी। एक ने मुक्ति को मंहगा सौदा बना दिया, दूसरे ने बहुत सस्ता। योग में गलदश्रु भावुकता को कोई स्थान नहीं। जो भक्ति पद–पर भक्त को कम्प, आवेग, जड़ता और रोमोदम की अवस्था में ले आ देती है वह इस क्षेत्र में अपरिचित थी और यदि सचमुच ही भाग और विभाग कल्पित हैं, कल्प–विकल्प बेकार हैं, संसार मृगमरीचिका है, परमतत्व विभाग और अविभाग से परे हैं, सूक्ष्म और स्थूल के अतीत हैं, यदि वह एक रस है, समरस है, तो फिर रोने से होता क्या है? अखण्ड चैतन्य स्वरूप अमायिक परमपुरूष के सामने यह विलाप क्यों? उस गुण–हीन, विकारहीन, दया–माया–हीन के पूजा क्या और स्तुति क्या। निर्ममता और अमायिकता योग की पहली शर्त है। इसीलिए वह अपने

अनुयायी को अक्खड़ बना देता है। कबीरदास ने यह अक्खड़ता योगियों से विरासत में पाई थी। संसार में भटकते हुए जीवों को देख कर करूणा के अश्रु से वे कातर नहीं हो आते थे बल्कि और भी कठोर होकर उसे फटकार बताते थे। वे प्रह्लाद की भाँति सर्वजगत् के पापों को अपने ऊपर ले लेने की वाक्छा से ही विचलित नहीं हो पड़ते थे बल्कि और भी कठोर और भी शुष्क होकर सूरत और निरत का उपदेश देते थे। संसार में भरम ने वालों पर दया कैसी, मुक्ति के मार्ग में अग्रसर होने वालों को आराम कहाँ, करम की रेख पर मेरख न मार सका तो सन्त कैसा–

ज्ञान का गेंद कर सुर्त का डंड कर
खेल चौगान–मैदान माँहीं।
जगत का भरमना छोड़ दे बाल के
आय जा मेष–भगवन्त जाहीं।।
भेष–भगवतंत की शेष महिमा करे
शेष के सिर पर चरन डोरे।
कामदल जीति के कँवल–दल सोधि के
बह्न को बेधि के क्रोध भारै।।
पदम–आसन करै पौस परिचै करै
गगन के महल पर मदन जारै।
कहत कबीर कोई सन्त–जन जौहरी
करम की रेख पर मेरव भारै।।

(शब्दावली पृ0 50)

परन्तु अक्खडता कबीरदास का सर्वप्रधान गुण नहीं है। जब वे अवधू या योगी को सम्बोधन करते हैं तभी उनकी अक्खडता पूरे चढ़ाव पर होती है। वे योग के

विकट रूपों का अवतरण करते हैं, गगन और पवन की हेली बुझाते रहते हैं, सुन्न और सहज का रहस्य पूछते रहते हैं, द्वैत और अद्वैत के सत्व की चर्चा करते रहते हैं और अवधू के अज्ञान पर कुटिल हँसी–सी हँसा करते हैं –

अवधू, अच्छर हूँसों न्यारा।
जो तुम पवना गगन चढ़ाओ, करो गुफा में बासा।
गगना–पवना दोनों बिन सै, कहँ गया जोग तुम्हारा।।
गगना–भद्धे जोती झलके, पानी मद्धे तारा।
घटिगे नींर विनसिंगे तारा, निनकरि गयौ कैहि द्वारा।।
मेरूदंड पर डारि दुलैची, जोगी तारी लाया।
सोर सुमेरपर खाक उडत्रानी, कच्चा योग कमाया।।
रँगला बिनसै, पिंगला किनसै, बिनसै सुषमनि नाड़ी।
जब उनमनि की तारी टूटै, तब कहँ रही तुम्हारी।।
अद्वैत–विराग कठिन है भाई, अँटके मुनिवर–जोगी।
अच्छर–लौकी गम्म बतावै, सो है मुक्ति–विरोगी।।
कह अरू अकह दुहूँते न्यारा, सत्त असतके पारा।
कहैं कबीर ताहि लख जोगी, उतरि जाय भव–पारा।।[1]

परन्तु वे स्वभाव से फक्कड़ थे। अच्छा हो या बुरा, खरा हो या खोटा, जिससे एक बार चिपट गये उससे जिन्दगी भर चिपटे रहो, यह सिद्धान्त उन्हें मान्य नहीं था। वे सत्य के विज्ञासु थे और कोई मोह–ममता उन्हें अपने मार्ग से विचलित नहीं कर सकती थी। वे अपना घर जलाकर हाथ में मुराड़ा लेकर निकल पड़े थे और उसी को साक्षी बनाने को तैयार थे जो उनके हाथों अपना भी घर जलवा सके –

---

1. डा0 हजारी प्रसाद द्विवेदी, कबीर, पृ0 153

हम घर जारा आपना, लिया मुराड़ा हाथ।

अब घर जारो तासुका, जो चलै हमारे साथ।।

(स0क0सा0 518)

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि परमात्मा के सम्बन्ध में संतों ने जो अनुभूति प्रकट की है वह अपनी विशेषता लिए हुए पृथक कोटि की ही सिद्ध होती है। उसके आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि :

(1) संतों ने ब्रह्म के परात्पर रूप को स्वीकार किया है। वह त्रिगुणातीत है, द्वैताद्वैत विलक्षण है, भावाभाव विनर्मुक्त है।

(2) संत उस अव्यक्त सत्ता को एक विलक्षण व्यक्तित्व प्रदान करते हैं।

(3) उसके प्रति भक्ति और प्रेम भाव प्रदर्शित करना ही उनकी साधना का लक्ष्य है।

(4) परमतत्व की नाम, रूप तथा गुणात्मक अभिव्यक्ति केवल सुविधा की दृष्टि से की है वह परम्परा पोषित भी मानी जा सकती है।[1]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि संतों का तत्वचिन्तन तथा उनके आध्यात्म सम्बन्धी विचार सत्संग एवं लोक चिन्ता के माध्यम से ही संतों द्वारा ग्रहण किये गये थे। संत–काव्य के आविर्भाव के समय नाथ पंथ का प्रभाव पूरे भारत में था इसमें दो मत नहीं हो सकते। आध्यात्मिक चिन्तन के रूप में आत्मा, जगत, माया, परमात्मा के सम्बन्ध में जो भी विचार उस समय लोक में प्रचलित थे उनका साधना की दृष्टि से प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष सम्बन्ध नाथ पंथ से था। यद्यपि संतों का ब्रह्म विचार नाथपंथियों का द्वैताद्वैत विलक्षण भाव नहीं है किन्तु संत जब ब्रह्म पर विचार करते हैं जो ज्योर्तिमय स्वरूप की कल्पना भी करते हैं और उसी रूप में उसे खोजने के लिए उन्हें बाहर नहीं

---

1. नाथ पंथ और निर्गुण संत काव्य, पृ0 201–216

भटकना पड़ता।[1] संतों की आत्मा सम्बन्धी धारण प्रायः अद्वैतानुभूति से अनुप्राणित है, नाथपंथी रचनाओं में भी वही रूप मिलता है और संतों में भी। जगत और माया के सम्बन्ध में संतों की स्थापनाओं में लोक प्रचलित अनेक रूपों के दर्शन होते है, जबकि नाथपंथी उनकी साधानात्मक अवस्था मुख्य रूप से स्वीकार करते हुए उन्हें हेय बताकर वैराग्य की चर्चा करते हैं।[2]

---

1. राम मोहि तारि कहाँ लै जैहौ।
   सौ बैकुण्ठ कहाँ धूँ कैसौ।। – डा0 हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ0 114
2. डा0 कोमल सिंह सोंलकि, नाथ पंथ और निर्गुण संत काव्य, प10 224, 225

अध्याय – 4

गोरखबानी का सन्त काव्य पर प्रभाव–भाव बोध की दृष्टि से

नाथों का सन्तों पर भाव बोध की दृष्टि से महत्वपूर्ण प्रभाव है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की यह धारणा प्रख्यात रही है कि नाथ योग और संत मत के सम्बन्ध भक्तिवाद के पूर्व निसन्देह नाथ सम्प्रदाय सबसे प्रबल मतवाद था इसलिए भक्तिवाद में इनके शब्द और मुहाबरे ही नहीं इनकी पद्धति भी बहुत कुछ आ गयी है। बाद के सभी लेखकों ने यह स्वीकार किया है कि नाथ मत का सिद्धान्त और साधना दोनों ही दृष्टियों से संत मत पर पर्याप्त प्रभाव है। समूचा सन्त काव्य गोरखबानी की परम्परा का विकास है। गोरखपंथी अक्खड़ता सन्त कवियों में देखने को मिलती है। अतः नाथ मत के संतों पर प्रभाव के अनेक आयाम रहे है। परवर्ती सन्तों में कई राम भक्तों की रसिक परम्परा से प्रभवित है, कुछ सूफी साधना की ओर झुके हैं और कुछ कृष्ण–भक्ति धारा के निकट है, अतः संत मत पर नाथ पंथ के प्रभाव की चर्चा करते समय विशेष सतर्कता और सजगता अपेक्षित है।

ऐसी स्थिति में जब सन्तों पर नाथ–पंथ के प्रभाव की बात की जाती है तो उसका एक ही अर्थ होता है कि सन्तों की बानियों में ऐसी अनेक बातें हैं जो नाथ–पंथ में भी मान्य है। कबीर सच्चे साधक थे गोरखनाथ के प्रति उनके मन में सम्मान का भाव था। गोरखनाथ ने भी अपने समय में अनेक साधनाओं में समाविष्ट अवांछित आचारों का निषेध किया था। नाथों तथा सन्तों के भाव अक्सर मिलते जुलते हैं। नाथों ने शुद्ध आचरण पर बल दिया था वही हमें आगे चलकर सन्तों की बानियों में देखने को मिलता है। यहाँ इस प्रभाव का अध्ययन निम्नलिखित शीर्षकों में किया जा रहा है –

(क) गुरु का महत्व,

(ख) नाथों की साधना,

(ग) तत्व चिन्तन,

(घ) रहस्यानुभूति,

(ङ) नैतिक और सामाजिक मूतय।

(क) गुरु का महत्व :

नाथ मत में गुरु का महत्व सर्वमान्य है। वस्तुतः गुरु का महत्व तांत्रिक साधना की देन है। मंत्र योग संहिता में कहा गया है –

गुरु पिता गुरुर्माता गुरुदेवो गुर्रुगति।
शिवे रुष्टे गुरुस्त्राता गुरो रुष्टे न कश्चन।।

गोरखनाथ ने कहा है –

गुरु कीजै गहिला, निगुरा न रहिला।
गुरु बिन ग्यान न पायला रे भाईला।।

अन्य गुरु को शरीरस्थ देवता बताते हुए वे कहते हैं –

गुरुदेव स्वयं देव सरीर भीतरिए।
आत्मा उत्तम् देव ताही की न जागो सेव।
आन देव पूजि–पूजि इमहिं मारिए।।

गोरक्ष सिद्धान्त संग्रह में कहा गया है –

दुर्लभा सहजावस्था सद्गुरो! करुणा बिना।।

कबीरदास ने 'सतगुरु महिमा को अंग' में गुरु का महत्म्य गान किया है। उनकी दृष्टि में सतगुरु के समान कोई सगा नहीं है। वह संशय को मिटाने वाला है वह सिकलीगर के समान है जो शब्द ग्यान के द्वारा चित्त को दर्पण के समान साफ कर देता है। वह भव सागर से पार लगाने वाला है, वह विवेक जाग्रत करने वाला है और पथ

प्रकाशित करने के लिए ज्ञान का दीपक प्रदान करने वाला है। गुरु अध्यात्म के बीच को अपनी उपदेशों की दृष्टि से अंकुरित करने वाला है।[1]

संत कबीर ने गुरु गोविन्द को बार बार पुकार कर कहते हैं, हे गोविन्द मैं तुम्हारी शरण आया हूँ, क्यों नही मुझे उबार देते? वृक्ष के नीचे आदमी छाया के लिए जाता है, अगर उस वृक्ष से ही ज्वाला निकलने लगे तो क्या किया जा सकता है? हे नाथ, कबीर केवल तुम्हीं को जानता है, वह तुम्हारे ही शरण आया है, पर कैसे आश्चर्य की बात है कि तुम्हीं उसे जला रहे हो। हे गोविन्द, सचमुच ही तुम डरने की चीज बन गये हो। कबीरदास जी कहते हैं कि गुरु के उपदेश ही से इस विपत्तिकाल में सहारा है। हरि के रूठने पर गुरु शरण देने वाला है किन्तु गुरु के रूठने पर कोई शरण देने वाला नहीं है। अन्ततः वह यहाँ तक कह देते हैं।

सतगुरु की महिमा अनंत अनंत किया उपगार।
लोचन अनंत उधारिया अनंत दिखावनहार।।[2]

परवर्ती सन्तों में गुरु का महत्व कुछ बड़ा ही है, घटा नहीं है दादू ने 'गुरुदेव जी को अंग' में गुरु को निरंजन रूप मानकर नमस्कार किया है। उसे मार्ग प्रदर्शक बताया है, उसे सभी प्रकार के कपाटों को खोलने वाला कहा है, उसे 'अमर अलेषा' के आसन के निकट पहुँचने वाला बताया है।

दादू उस गुरुदेव की मैं बलिहारी जाऊँ।
जहाँ आसण अमर अलेष था ले राधे उस ढाँऊ।।

भक्ति और मुक्ति के भण्डार को देने वाला तथा सहज ही साहब का दीदार करने कराने वाला 'सतगुरु' ही है।

---

1. डॉ0 मनीषा शर्मा, गोरखबानी– परम्परा और काव्यत्व, पृ0 136
2. डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी, कबीर, पृ0 10·147

सतगुरु मिलै त पाइये भगति मुकति भंडार।

दादू सहजै देषिये साहिब का दीदार।।

मलूकदास के अनुसार गुरु भ्रम कों भगाने वाला तथा मोह को दूर करने वाला है –

भ्रम भागा गुरु वन्दन सुनि, मोह रहा नहिं लेस।।

इस प्रकार की उक्तियाँ सभी सन्तों में मिल जाती है। सुन्दरदास, दरिया साहब (बिहार वाले) इलनदास, सहजोवाई, दयाबाई, पलटू साहिब आदि अनेक सन्तों ने मुक्त हृदय से गुरु का महत्व प्रतिपादित किया है। योग मत और संत मत दोनों में गुरु के महत्व प्रतिपादन में अन्तर दिखाते हुए डा0 नागेन्द्रनाथ उपाध्याय ने लिखा है – "नाथों की अष्ट परीक्षा और 32–36 लक्षणों की व्यवस्था पर आधारित गुरु शिष्यवाद और अधिकार–भेदवाद सन्तों में उपलब्ध नहीं होता, यद्यपि गुरु शिष्य के लक्षणों, पात्रताओं और अधिकारों के संकेत यत्र तत्र संत साहित्य में मिल जाते हैं। यह अन्तर लक्षित किया जा सकता है कि नाथ योगियों में हठयोग की साधना के लिए प्रत्येक स्तर पर गुरु की आवश्यकता होती थी। आसन, प्राणायाम, मुद्रा, धौति, चक्रभेद, नाड़ी शुद्धी आदि सभी साधनाएँ सुयोग्य गुरु के निर्देशन में ही की जाती हैं। सन्तों में हठयोग की इन साधनाओं का साम्प्रदायिक विधान नहीं है। नाथयोग अपेक्षाकृत संगठित सम्प्रदाय था। सन्तों की परम्परा में अनेक छोटे–छोटे सम्प्रदाय कुछ सामान्य विशेषताओं के साथ विकसित हुए। इसलिए साम्प्रदायिक नियमों का अनिवार्य विधान संत मत में नहीं है। इसलिए गुरु और शिष्य के लक्षणों का संख्याबद्ध निर्धारण संत मत में असम्भव नहीं था। जहाँ तक गुरु के महत्व और स्थान का प्रश्न है, वह सन्तों में भी किसी प्रकार कम नहीं है।[1]

नाथपंथ की हठयोग साधना में गुरु के बिना साधक सफल नहीं हो

---

1. डॉ0 मनीषा शर्मा, गोरखबानी– परम्परा और काव्यत्व, पृ0 137

सकता गुरु का महत्व अपरम्पार है। गुरु ही शिष्य को ईश्वर तक पहुँचाने वाली सिढ़ी बताया गया है। गुरु ही शिष्य को ईश्वर से मिलाने वाली कढ़ी माना गया है।

(ख) <u>नाथों की साधना :</u>

नाथ योगियों की साधना मुख्यतः योग साधना है। योग साधना की पूर्णता के लिए आसन, प्राणायाम्, मुद्रा, कुंण्डलिनी–जागरण, नाड़ी शोधन नादानुसन्धान पिंड रहस्य आदि की जानकारी योगी के लिए अनिवार्य है।[1]

आसन शारीरिक अवयवों का नियमित एवं निर्धारित व्यायाम है। हठयोग के ग्रन्थों में 48000 आसनों का उल्लेख है, जिनमें 74 विशेष उपयोगी समझे जाते हैं। इनमें भी सिद्धासन पद्मासन, सिंहासन और भद्रासन को अधिक महत्व दिया जाता है। सिद्धासन सर्वोत्तम है। 'प्राणायाम' के द्वारा 'श्वासक्रिया' पर नियन्त्रण स्थापित करके प्राणतत्व को जाग्रत और प्राणशक्ति को केन्द्रित करते हैं। महामुद्रा की साधना अपेक्षाकृत कठिन है। महामुद्रा साधना के अनेक भेद हैं। इनकी साधना के लिए शरीर की शुद्धता अपेक्षित है। इसके लिए षट्क्रिया–धौति, वास्ति, नेति, त्राटक आदि की व्यवस्था है। मुद्रा साधना का लक्ष्य मनोवैज्ञानिक प्रकृति के अंतराल में सुप्त आध्यात्मिक, शक्ति को जाग्रत करना है। कुंडलिनी योग नाथ परम्परा में महत्वपूर्ण माना गया है। ऐसा समझा जाता है कि परम आध्यात्मिक शक्ति मनुष्य मात्र में सुप्तावस्था में विद्यमान है। इस सुप्त सर्पिणी रूपा कुंडलिनी को जागृत करके सुषुम्ना नाड़ी के भीतर से षटचक्रों को भेदते हुए सुषुम्ना नाड़ी की उच्चतम सीमा पर सहस्रार चक्र में स्थित्त शिव तत्व से मिला देना ही कुंण्डलिनी योग है।[2]

योगशास्त्र के अनुसार शरीर की सभी बाहरी क्रियाओं एवं चेष्टाएँ तथा आन्तरिक इच्छाएँ शरीरस्थ नाड़ी मंडल के द्वारा नियोजित हैं। नाड़ियों की कुल संख्या

---

1. डा0 नजीर मुहम्मद, कबीर के काव्यरूप, पृ 52
2. कोमल सिंह सोंलकी, नाथ और संत साहित्य, पृ0 457

62 हजार है। यह नाड़ी मडल भी इड़ा, पिंगला तथा सुषुम्ना नाड़ियों से सम्बद्ध और शासित हैं। इड़ा और पिंगला– दोनों श्वासक्रिया से संचालित होती है। शरीर के भीतर कार्य करने वाली प्राण–शक्तियाँ प्राण, आपान, समान, उदान और ज्यान–श्वास क्रिया की नियमित व्यवस्था पर निर्भर करती है। नाड़ी चक्र के दूषित होने से प्राण शक्ति क्षीण होती है। अतः नाड़ी शोध्र की आवश्यकता पड़ती है। नाड़ी चक्र के विशुद्ध हुए बिना मनोनिवृति या उन्मनी भाव भी सम्भव नहीं है। देह की कृशता, कांति, इच्छानुसार वायु धारण करने का सामर्थ्य, अग्निवृद्धि नाद की अभिव्यक्ति और आरोग्य– ये सब लक्षण जब आविर्भूत हो जायें, तब समझना चाहिए कि सब नाड़ियाँ शुद्ध हो गयी है।[1]

योग साधना में नादानुसन्धान एक महत्वपूर्ण तत्व है। वस्तुतः बुद्धजीव श्वास–प्रश्वास के अधीन होकर निरन्तर इड़ा पिंगला मार्ग में चल रहा है। उसका सुषुम्ना पथ बन्द है। जगत के अन्तस्थल में और आकाश मंडल में जो अखंड नाद ध्वनित हो रहा है, उसे वह नहीं सुन पाता। जब साधक गुरु कृपा से साधना पथ पर अग्रसर होता है और क्रिया विशेष से सुषुम्ना मार्ग–उन्मुक्त हो जाता है, तब मन उस सूक्ष्म मार्ग से निरन्तर अनाहत ध्वनि–श्रवण करता हुआ क्रमशः पूर्ण शान्त और स्थिर हो जाता है।[2]

नाथ मत और सन्तों की साधना में मौलिक अन्तर भी है क्योंकि कबीर के युग में हठयोग का अधिक महत्व था। शैव साधक और नाथपंथी योगी हठयोग की साधना में तल्लीन होकर अनिवर्चनीय आनन्द की अनुभूति करते थे। सन्तों में कबीर की रचनाओं का अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि सन्तों में भी हठयोग के प्रति आस्था रही होगी किन्तु इन्होंने साधन रूप में ही स्वीकार किया होगा।

सन्तों के पदों में यम, नियम, आसन, प्राणायाम, आदि का प्रथक प्रथक उल्लेख नहीं है। उन्हें योग के अष्टागों को गिनाने की आवश्यकता भी न थी। इसलिए

---

1. गोरखबानी परम्परा और काव्यत्व, पृ0 138
2. नाथ और संत साहित्य, पृ0 387

उन्होंने उनकी ओर संकेत मात्र किये हैं। ये नियम तो प्रत्येक साधना के लिए आवश्यक ही है। कबीर आसन को दृण करके निद्रा को जीतने पर बल देते हैं। मन की विकृति का निवारण करके इसे स्वस्थ बनाने के लिए वे प्राणायाम को आवश्यक बताते हैं। वे कहते हैं प्राणायाम में पंच वायु का बन्धन करके ध्यान में लीन होकर इड़ा पिंगला को एकमेव कर त्रिकुटी तक पहुँचाए तथा कमलों के प्रकाशित होने पर त्रिभुवन पति के दर्शन प्राप्त करें –

पहले खोजो पंच वाई, वाई व्यंद ले लगन समाई।
गगन जोति तहाँ त्रिकुटी संधि, रवि ससि पवना में लौ वधिं।
मन थिर होई त कवल प्रकासै, कवला माँहि निरंजन वास।
सतगुरु संपट खोलि दिखावै निगुरा होई तो कहाँ बतावै।
सहज लछन लै तजौ उपाधि आसन दिढ़ निद्रापुनि साध।[1]

सन्तों ने प्राणायाम की प्रक्रिया द्वारा इन्द्रिय निग्रह पर अत्यन्त बल दिया है। प्राणायाम की प्रक्रिया के सम्बन्ध में वे कहते हैं कि जिस प्रकार तीर को लक्ष्य पर मारने के लिए पहले पृथ्वी की ओर करके प्रत्यंचा को खींचना पड़ता है फिर ऊपर को साधकर तीर को छोड़ा जाता है। उसी प्रकार प्राणायाम में पहले पवन को श्वास द्वारा बाहर फेंका जाता है फिर वायु को खींचकर शरीर में भरकर ब्रह्मारन्द्र की ओर ले जाता हो यही प्राणायाम का रहस्य है –

उलटि पवन कहाँ सखिये, कोई भरम विचारै।
साधै तीर पाताल कूँ, फिरि गगनहिं मारै।।[2]

अग्नि में तपकर सोने का मल दूर हो जाता है। उसी प्रकार प्राणायाम द्वारा इन्द्रियों के दोष दूर हो जाते हैं। मन स्थिर हो जाता है और परमानन्द की प्राप्ति होती है –

---

1. कबीर ग्रन्थावली, पृ0 325
2. कबीर ग्रन्थावली, पद 154, प1 138

कनक कसौटी जैसे करिन लेई सुनारा सोधि शरीर भमोतन सारा।

उपजत उपजत बहुत उपाई, मन स्थिर भयो तगे तिथि पाई।।

बाहरि षोजत जनम गंवायां, उनमनी व्यान घट भीतरि पाया।।[1]

महर्षि दयानन्द ने भी इसी भाव को प्रदर्शित किया है :–

दहन्ते ध्यायामानानां धानूनां च यथा मला।

तथेन्द्रिभावां दहनन्ते दोषा। प्राणस्य निग्रहात्।।[2]

इड़ा पिंगला सुषुम्ना नाड़ियों को उन्होंने ससिहर सूर (सूर, सूर्य, अग्नि) कहा और इन नाड़ियों के मिल जाने पर जब प्राण वायु ऊपर चढ़ती है तो उन्हें अनाहदनाद सुनाई पड़ा और परमतत्व का सामीप्य भी प्राप्त हुआ –

ससिहर सूर मिलावा।

तब अनाहद बेन बजावा।

जब अनहद बाजा वाजे।

तब सांई संग विराजे।[3]

कबीर के इड़ा पिंगला को गंगा जमुना तथा सुषुम्ना को बंकनालि, सुषुमन नाड़ी या उलटि गंग आदि संज्ञाएँ प्रदान की हैं। वे त्रिवेणी स्थान पर तीनों नाड़ियों के मिलन की चर्चा करते हैं। वे त्रिवेणी त्रिवेणीं, त्रिगुट संगम, तीरथ राज, एक त्रिकुट कोट आदि नामों से पुकारते हैं। उन्होंने अनेक स्थानों पर योगानुभूति को पारिभाषिक शब्दों के सहारे अत्यन्त आलंकारिक ढंग से प्रस्तुत किया है। उसका एक रूपक देखिये –

अरध उरध की गंगा जमुना, मूल कमल की घाट।

षट् चक्र की गागरी, त्रिवेणी संगम बाट।।[4]

---

1. कबीर ग्रन्थवली, पद 17, पृ0 94
2. सत्यार्थ प्रकाश समु0 3, पृ0 40
3. कबीर ग्रन्थावली, पद 173, पृ0 146
4. वही, पद 18, पृ0 94

इसी प्रकार एक अन्य रूपक में वे इड़ा पिंगला को दो खम्बों तथा सुषुम्ना को रस्सी मान कर पंच वायु (प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान) तथा प्राण शक्ति को झूले पर झूलते हुए दिखाते हैं।

चंद सूर दोई खेभवा वंकनालि की डोरि।

भूलैं पंच पियरिया तहं झूलै जीय मोर।।[1]

<u>षट्चक्र :</u>

हठयोग के बताये गये षट्चक्रों को कबीर ने भी स्वीकार किया है और उनके भेद पर बल दिया है।

षट्चक्र कवल वेदा, जारि उजारा कीन्हाँ।

— —

उलटे पवन चक्र तट वेधा भरे दंड सर पूरा।।[2]

कबीर ने षट्चक्रों को स्वीकार करते हुए भी चक्रों के सम्बन्ध में प्रचलित परम्परागत धारणा को नहीं माना है। कौन सा चक्र शरीर के किस भाग में स्थित है इस सम्बन्ध में उन्होंने कोई संकेत नहीं किया। विभिन्न चक्रों के अदिदेवों के सम्बन्ध में भी वे स्वतन्त्रता से कार्य लेते हैं। कबीर देवी देवताओं की कल्पना निरर्थक समझते थे। उन्होंने एक ही परमतत्व को माना और उसे नाना नामों से अभिहित किया इसलिए कबीर ने विभिन्न चक्रों पर कहीं श्रीरंग कहीं गोपाल कहीं कमलकान्त, कहीं बाल गोविन्द और कहीं निरंजन की स्थिति स्वीकार की है।

षट्चक्रों में प्रथम मूलाधार चक्र हैं। सन्तों में कबीर ने प्राणायाम की साधना द्वारा इड़ा, पिंगला की सहायता से मूलाधार चक्र को वेध कर अन्य षट्चक्रों को वेधते हुए मन को संगम स्थान पर ले जाने की बात कहीं है।

---

1. कबीर ग्रन्थावली, पद 18, पृ0 94
2. वही, पपद 210, पृ0 159

दूसरा चक्र स्वाधिष्ठान है। इस पर मनन करने वाला योगी मृत्यु को जीत लेता है। कबीर ने भी इसी मत का प्रतिपादन किया है। उनका कथन है कि छह दल वाले कमल पर मनन करने वाला योगी जब कमल और तीनों नाड़ियों का सम्मिलन करता है और सुषुम्ना में ध्यान को केन्द्रित करता है तो दूसरा कमल विंध जाता है और वह मृत्यु को जीत लेता है।

तीसरा दस दल वाला चक्र मणिपूर है। इस पर मनन करने वाला योगी चिरमुखदायिनी सिद्धि प्राप्त करता है। कबीर ने दस दल के स्थान पर अष्ट दल कमल का उल्लेख भी छूट जाता है और उसका परमात्मा तत्व से सम्मिलन हो जाता है –

षोड़स कंवल जब चेतिया तब मिलि गए श्री वनवारी रे।

जुरा मरण भम भाजिया पुनरपि जनम निवारि रे।।[1]

छंटी त्रिकुटी (भोहों के मध्य) स्थान पर स्थित द्विदस वाला आज्ञाचक्र है। इसके दोनों ओर से आने वाली इड़ा और पिंगला नाड़ियों का यहाँ मिलन होता है, इड़ा को 'वरूणा' और 'पिगला' को 'असि' भी कहा गया है इसलिए उनके सम्बन्ध से इसको 'वाराणसी' नाम मिला। इस पर चिन्तन करने वाला योगी सिद्ध पद को प्राप्त कर लेता है।

संत कबीर ने इस चक्र का परिचय संकेत मात्र से दिया है। इस स्थल को उन्होंने 'काशी' और 'शिवपुरी' भी कहा है –

कासी ते धुनि उपजै धुनि कासी जाई।

– –

काया कासी खौजे वास।

तहाँ जोति सरूप भयौ परकास।

– –

---

1. कबीर ग्रन्थावली, पृ0 88

सिव की पुरी वसै बुधि सारू!

वे त्रिवेणी में मन को स्नान कराने की बात कहते हैं। वे त्रिकुटी को छोड़कर ब्रह्माण्ड के दसवें द्वार को खोलने वाले को ही सच्चा साधक मानते हैं –

नगरी एकै नऊ दरवाजे धावतु करजि सहाई।

त्रिकुटी छूटै, दस वादरू खूतहे ता मनु खीवा भाई।

त्रिकुटी संधि में पोखिमा घट है घट जांगी।

आज्ञाचक्र से ऊपर तालु मूल में स्थित सहस्रदल कमल है। इसके मध्य में स्थित चन्द्र के द्वारा गगन में घर बनाने की बात कहते हैं यहाँ अमृत झरता रहता है उसका सुषुम्ना मार्ग से पान करें और अनाहद नाद का सतत श्रवण करें। एक पद में इस दशा का विस्तृत वर्णन देखिये[1] –

अवधू गगन मंडल घर कीजै।

अमृत भरै सदा सुख उपजै वंकनालि रस पीजै।

मूल वाँधि सर गगन समाना सुषुमन मौ वन लागी।

काम क्रोध दोउ भये पलीता तहाँ जोगणी जागी।

मनवा जाई दरीवै वैठा मगन भया रस लागा।

कहै कबीर जिय संसा नाहीं सबद अनाहद दागा।[2]

कबीर साहब कहते हैं कि इस दशा में पहुँचने पर समस्त संसार से सम्बन्ध छूट जाता है –

षट् चक्र वोधि कमल बेधि, जाय उजियारा कीन्हा।

गगन मद्धे रोकिन्ह द्वारा, जहाँ विदवस नांहि राती।

दास कबीरा जाय पहूँचे, विछुरे संग संधाती।

---

1. डा० नजीर मुहम्मद, कबीर के काव्य रूप, पृ० 222–226
2. कबीर ग्रन्थावली, पृ० 70

वे प्रसावित होते हुए अमृत रस का पान करने पर बहुत बल देते हैं।

बंकनालि के अंतरै, पछिम दिसा की वाट।

नीझर झरै रस पीजिये, तहाँ भवँर गुफा के घाट रे।।[1]

योग साधना में नादानुसन्धान एक महत्वपूर्ण तत्व है। वस्तुतः बुद्धजीव श्वास–प्रश्वास के अधीन होकर निरन्तर इड़ा पिंगला मार्ग में चल रहा है। उसका सुषुम्ना पथ बन्द है। जगत के अन्तरस्थल में और आकाश मंडल में जो अखंड नाद ध्वनित हो रहा है उसे वह नहीं सुन पाता जब साधक गुरु कृपा से साधना पथ पर अग्रसर होता है और क्रिया विशेष से सुषुम्ना मार्ग उन्मुक्त हो जाता है। तब मन उस सूक्ष्म मार्ग से निरन्तर अनाहत ध्वनि–श्रवण करता हुआ क्रमशः पूर्ण शांत और स्थिर हो जाता है। इस स्थिति में नाद ध्वनि नहीं सुनाई पड़ती। अनाहत ध्वनि श्रवण करते हुए क्रमशः पूर्ण शान्ति प्राप्त करना ही उपाधिरहित शब्दतत्व प्रणव (ओंकार) को उपलब्ध करना है। योगियों द्वारा अनाहत नाद का अवलम्बन करके शब्द ब्रह्मा में लीन होना ही नादानुसन्धान है।

यह सम्पूर्ण विश्व विश्व का पर पिंड है। इसे अनादि पिंड भी कहते हैं। शिव तत्व इस अनादि विश्वरूप महासाकार पिंड का प्रकाशक धारण करने वाला और व्यवस्थापक है। इसी साकार पिंड से तथा इसी अनादि पिंडातर्गत अगणित जीव कोटियों की उद्भूति होती है जो उन्हीं तत्वों से विचरित, उसी शक्ति में संगठित तथा उसी आत्मा से प्रकाशित है। इन्हें व्यष्टि पिंड कहते हैं। तत्वतः महासाकार अनादि पिंड और व्यष्टि पिंड एक ही है प्रत्येक पिंडधारी जीव के भीतर शिव तत्व सदैव विद्यमान रहता है। पूर्ण विकसित मनोभौतिक मानव शरीर प्रत्यक्षतः शिव के भौतिक शरीर स्वाभाविक विकार की उच्चतम स्थिति है। व्यष्टि पिंड विश्व पिंड का संक्षिप्त रूप है। जब दृण विश्वास के साथ यह अनुभूति हो जाती है तब यह समझा जा सकता है कि पिंड का रहस्यज्ञान अत्यन्त आवश्यक है 'गोरखाबानी' में उपयुक्त सभी साधना रूपों का उल्लेख है। उदाहरणार्थ

1. कबीर ग्रन्थावली, पृ0 88

कुछ पंकित्याँ नीचे उदद्यृत की जाती है –

ऊंकार आछै बाबू मूल मन्त्र थारा। ऊंकार व्याषीले सकल संसारा।।
नाद ही तो आछै बाबू सब कछू निंधाना। नाद ही पाइये परम
परम निखाना।।
(नादानुसंन्धान)[1]

आँऊ नहीं जाँऊ निरंजन नाथ की दुहाई।
प्यंड ब्रह्मड षोंजता, अम्हे सब सिधि पाई।।[2]
काया गड़ भीतरि देव देहुश कासी।
सहज संभाई मिले अविनासी।।[3]
(पिंड रहस्याज्ञान–1)[4]

(ग) <u>तत्वचिन्तन :</u> संतों के सिद्धान्तों को नाथपंथी योगियों ने अनेक रूपों में प्रभावित किया है। डा0 हजारी प्रसाद द्विवेदी का कथन है कि मुक्त प्रान्त और मध्यप्रदेश के उन भागों में जहाँ की भाषा हिन्दी है, वैष्णव मतवाद के प्रचार के पूर्व सर्वाधिक प्रचलित मतवाद शैव धर्म था पर साधारण जनता चमत्कारों पर अधिक विश्वास करती है और इन योगियों के चमत्कारों की बड़ी ख्याति थी। सूरदास ने अपने भ्रमर गीत प्रसंग में इस योगमार्ग की विकटता का प्रदर्शन करके वैष्णव धर्म की श्रेष्ठता प्रतिपादित की है पर कबीर आदि ने इनकी सम्पूर्ण पद्धति स्वीकार करके फिर रूपक द्वारा अपनी बात को इसी पद्धति के बल पर प्रतिष्ठित करने का मार्ग अवलम्बन किया। भक्ति काव्य में इस पंथ के अनेक सिद्धान्तों का समावेश हुआ है। शब्द योजना ही नहीं, अपितु सिद्धान्त निरूपण मे भी कहीं मण्डन कहीं खण्डन दोनों रूप में नाथपंथी सिद्धान्तों और साधना पद्धतियों का

---

1. नाथ योग, पृ0 66
2. वही, पृ0 136
3. वही, पृ0 116
4. डा0 मनीषा शर्मा, गोरखबानी परम्परा और काव्यत्व, पृ0 138, 139

प्रभाव निश्चित है।

नाथपंथ के सिद्धान्तनुसार महाकुण्डलिनी नामक एक शक्ति है जो सम्पूर्ण सृष्टि में परिव्याप्त है। व्यष्टि (व्यक्ति) में व्यक्त होने पर इसी शक्ति को कुण्डलिनी कहते हैं। प्रलयकाल में शिव कार्य–कारण विरत हो जाते हैं तब परम शिव से एक ही साथ दो तत्व उत्पन्न होते हैं। शिव और शक्ति। यह शक्ति पाँच अवस्थाओं में निकलती हुई सृष्टि क्रम को अग्रसर होती है। इस पंचम शक्ति को कुण्डलिनी कहा गया है। इस शरीर में सबसे प्रधान कार्य करने वाली शक्ति कुण्डलिनी ही है। यह विश्व ब्रह्माण्ड में व्याप्त महाकुण्डलिनी का ही पिंडगतस्वरूप है। गोरखनाथ के मतानुसार पिण्ड मनो ब्रह्माण्ड का संक्षिप्त संस्करण है अतएव जो कुछ भी ब्रह्माण्ड में है वह सभी पिण्ड में है। अपनी मूलचिन्ता में नाथपंथ अद्धैतवादी है। श्री परशुराम चतुर्वेदी ने लिखा है कि गुरु गोरखनाथ के दार्शनिक सिद्धान्त वेदान्तपरक जान पड़ते हैं और इनकी योग सम्बन्धी रचनाओं के अर्न्तगत भी अद्वैत सिद्धान्त का ही प्रतिपादन लक्षित होता है। गोरखनाथ ने योगमार्ग को अपनी साधना का लक्ष्य बनाकर अपने चिन्तन में शून्य को जो स्थान प्राप्त था और उसकी जो स्थिति बन गयी थी उसके अनुसार गोरखनाथ द्वारा शून्यवाद का सम्बन्ध वज्रयानी साधना से न होकर वेदान्त दर्शन से था इसमें दो मत नहीं हो सकते। गोरखनाथ के मतानुसार परमतत्व तक किसी की पहुँच नहीं है। वह नाम और रूप दोनों उपाधियों से परे हैं। जरामरण से दूर काल से अस्पष्ट सतत बालस्वरूप ब्रह्मा ही उनका साध्य है, शून्य स्थिति उनका लक्ष्य नहीं। गोरखनाथ की एक सबदी इस सम्बन्ध में दृष्टव्य है –

बसती न सुन्यं सुन्यं न बसती, अगम अगोचर ऐसा।
गगन सिषर महिं बालक बोले ताका नांव धरहुगे कैसा।।

परब्रह्मा यही है, ब्रह्मा का व्यक्त स्वरूप यह ब्रह्माण्ड है उसकी यह अद्वैत स्थिति साधना का विषय है –

इहाँ ही आछै इहाँ ही अलेप। इहाँ ही रचिलै तीनि त्रिलोक।
आछे संगै रहै तुवा। ता कारिण अनन्द सिद्ध जोगेश्वर हुआ।।
अलष विनाषी दोई दीपक, रचलै तीन भवन इक जोती।
तास विचारत त्रिभुवन सूझै, चुणिल्यौ माणिक मोती।।

यद्यपि नाथपंथ साहित्य में मूलरूप से साधना मार्ग की ही व्याख्या की गयी है तथापि कहीं कहीं तत्वदर्शन भी उपलब्ध हो जाता है। धार्मिक संक्रमण के उस युग में गोरखनाथ की वाणी का मूलस्वर ब्रह्मावादी ही माना जा सकता है जिसकी पृष्ठभूमि का दार्शनिक आधार स्वामी शंकराचार्य का अद्वैत वेदान्त है। किन्तु जिन प्रतीकों पर बौद्ध चिन्ता की छाप स्पष्ट है। डा0 हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इस विषय की अनेक सम्भावनाओं पर प्रकाश डालते हुए एक स्थल पर लिखा है – बौद्ध धर्म का इस देश से जो निर्वासन हुआ उसके प्रधान कारण शंकर कुमारिल तथा उदयन् आदि वेदान्तिक और मीमांसा के आचार्य माने जाते हैं। मन्तव्य यह है कि जब गोरखनाथ के दो शताब्दी पूर्व स्वामी शंकराचार्य ने बौद्धिक धर्म की पुनः प्रतिष्ठा की थी जब निश्चित रूप से नाथपंथी चिन्तन की दार्शनिकता की दृष्टि वज्रयानी दार्शनिक दृष्टि का विस्तार मात्र नहीं हो सकता है, यद्यपि कुछ विद्धानों ने सन्तों एवं नाथ सिद्धों की वाणियों में प्रमुख शून्य आदि को लेकर उसका सम्बन्ध बौद्ध शून्यवाद से जोड़ने का प्रयत्न किया है। गोरखनाथ के तत्वचिन्तन में शून्य ईश्वर की भावना का प्रतीक है। वेदान्त के अनुसार ब्रह्मा की एक शक्ति स्वीकार की गयी है। वह शक्ति माया है चिद परब्रह्मा की शक्ति माया को वेदान्त में जड़ रूप माना गया है। शाक्त आगामों में यह तथ्य स्वीकार नहीं किया गया। चेतन ब्रह्मा की शक्ति को नाथपंथ में चेतन ही स्वीकार किया गया है। इसकी उपासना का प्रधान साधन नाथपंथ में पिण्ड ही माना गया है। वैसे तो सभी प्राणी और अप्राणी शक्ति के आवास हैं किन्तु केवल शक्ति का संचालन ही लक्ष्य नहीं है लक्ष्य है शिव और शक्ति का सामरस्य रूप सहज समाधि। इस प्रकार शैव मत के अद्वैत दर्शन का नाथपंथ की

तत्व चिन्ता का पूरा प्रभाव है। केवल शैव दर्शन ही नहीं किन्तु शाक्त तन्त्रों का भी युगीन प्रभाव स्पष्ट है। भारतीय अद्वैत वेदान्त प्रवल प्रचारक स्वामी शंकराचार्य की कुछ रचनाओं को भी 'श्री विधा' एक प्रसिद्ध ग्रन्थ माना गया है। ऐसी स्थिति में नाथपंथ का तत्वदर्शन अद्वैत वेदान्त ही जीव और ब्रह्मा की अद्वय स्थिति का समर्थक है।[1]

नाथपंथ के तत्वचिन्तन का प्रभाव सन्तों पर पड़ा है लेकिन नाथ तथा सन्तों के तत्वचिन्तन में अन्तर भी है। सन्तों का तत्वचिन्तन अनुभूति प्रधान है। भारत में अध्यात्म सम्बन्धी अनुभवों की प्राचीनता विश्वमान्य है। अध्यात्म के अर्न्तगत ब्रह्मा, जीवन, जगत आदि विषयों की चर्चा मिलती है। आध्यात्म का विषय स्वंसवेद्य है। सन्तों ने जिस तत्वचिन्तन को अपनी वाणियों में समय–समय पर प्रकट किया है उसकी उद्भावना आकस्मिक नहीं मानी जा सकती है। यह चिन्तन सबसे पहले सन्तों द्वारा ही प्रस्तुत हुआ यह मानने के लिए हमारे पास कोई प्रमाण नहीं है। विविध प्रतीकों के माध्यम से ब्रह्माचिन्तन का जो रूप सन्तों में उपलब्ध है उसका सीधा सम्बन्ध भारतीय चिन्तन धारा से अत्यन्त प्राचीन काल से है। कुछ विद्वानों का मत है कि ब्रह्म चिन्तन की धारा वेदो से निकली और उपनिषदों के तत्वचिन्तन परवर्तीयुगों के तट का स्पर्श करती हुई जैन और बौद्ध काल में विस्तृत होती हुई चौदहवीं शताब्दी में इन सन्तों के ज्ञान क्षेत्र में सिमट गयी। अनेक विद्वान उपनिषदों के तत्वचिन्तन और सन्तों के अध्यात्म सम्बन्धी विचारों में आश्चर्यजनक समानता देखकर एक लम्बी परम्परा का संकेत करते हैं। किन्तु परशुराम चर्तुवेदी का कथन है कि कबीर आदि सन्तों ने अध्यात्म सम्बन्धी सिद्धान्तों का प्रतिपादन दार्शनिक निरूपण के रूप में नहीं किया। उन्होंने कबीर साहित्य के परख में एक स्थल पर कबीर सहाब के सिद्धान्त की चर्चा करते हुए लिखा है कि यह अनुमान करना कि उन्होंने शंकराद्वैत वेदान्त की बातें बतायी है अथवा रामानुजीय मत का अनुसरण किया है और उनकी शक्तियों को एकत्र कर अनेक आधार पर औपनिषदिक विचारधारा के साथ

---

1. डॉ0 नजीर मुहम्मद, कबीर के काव्य रूप, पृ0 189, 190

संगति विठाना भी उचित नहीं मन्वव्य यह है कि तत्वचिन्तन के मूल स्रोतों के सम्बन्ध में किसी एक निश्चित मान्यता को आधार नहीं माना जा सकता किन्तु विद्वानों की विभिन्न स्थापनाओं में यह संकेत अवश्य उपलब्ध है कि सन्तों के आध्यात्मिक विचारों का सम्बन्ध किसी न किसी रूप में विश्व में शताब्दियों से व्याप्त रहा है।

नाथपंथी साधना के लोकव्यापक प्रभाव ने यद्यपि मध्ययुग तत्वचिन्तन को विशेष रूप से स्पर्श किया है किन्तु वास्तव में नाथपंथ एक साधना पंथ ही था। बौद्ध सहजयान धर्म की तत्वमीमांसा और व्यवहार की अस्पष्ट तथा अनैतिक परिस्थितियों के कारण नाथपंथ एक विशुद्ध साधना पंथ ही बना रहा। यह युग की परिस्थितियों के अनुसार अशतः सत्य ही माना जायेगा किन्तु नाथपंथी साधना में क्रियाबहुल कठोर आचरण की मोटी पर्त के भीतर नाथपंथी तत्वचिन्तन का प्रचार लोक में नही हो सका, यह भी उतने अंशों में विद्वानों द्वारा मान्य किया गया है। अद्वैत वेदान्त के शैवागमों से सम्बद्ध सिद्धान्तों का लोक जीवन में स्वागत न हुआ उसका कारण नाथपंथ में शुष्क साधना का प्रबल आग्रह तथा ग्रहस्थ जीवन के प्रति अनादर का भाव था? ऐसी स्थिति में नाथपंथी साधना के लोक प्रभावी रूप से सम्बद्ध संत लोक तत्वचिन्तन की दृष्टि से योग और भक्ति का समन्वय स्वर लेकर उपस्थित हुए। यह तत्वचिन्तन अपने मूलरूप में भारतीय दर्शनों की व्यावहारिकता से पूर्णतया सम्बन्ध है तथा उसका उन्मेश विभिन्न परिस्थितियों में हुआ है। यही कारण है कि मूलतत्व के सम्बन्ध में सन्तों के चिन्तन करने का मार्ग पिछले सभी मार्गो से भिन्न है अनुभव की कसौटी पर कसकर ही सन्तों ने ब्रह्मा, जीव, जगत के सम्बन्ध में अपनी स्थापनाओं को पुष्ट किया है। कबीर कहते हैं कि इसके लिए कहीं जाना नहीं पड़ा विचार करते ही करते सत्य का अनुभव हो गया किन्तु इस अनुभव की पृष्ठभूमि के रूप में सन्तों के पास तत्वचिन्तन के लिए कौन सी आधार भूत सामग्री थी। यह भी एक विचारणीय बात है जिस आध्यात्मिकता के आधार पर सन्तों का तत्वचिन्तन सम्भव हुआ मध्ययुग में उसके सूत्र कम से कम उपनिषद अथवा दर्शनग्रन्थ

नहीं थे, प्रायः सभी विद्वान इस बात से सहमत हैं। संत कवियों में भी केवल गिनती पर गीने जाने वाले एक दो ही संत ऐसे हैं जिन्होंने विधिवत शास्त्रज्ञान प्राप्त किया हो, अन्यथा सभी सन्तों ने केवल अपने अनुभव ही प्रकट किये हैं ऐसा प्रतीत होता है कि सन्तों ने इन्हीं अनुभवों को वेदान्त की संज्ञा दे दी।[1]

(घ) रहस्यानुभूति –

मध्ययुगीन धार्मिक मतवाद शुद्ध तर्क पर आधृत नहीं है, अतः इसमें रहस्यानुभूति के तत्व भी विद्यमान है। नाथमत के अर्न्तगत भी एक प्रकार की रहस्यवादी प्रवृति विद्यमान है। गगन शिखर पर शब्द ब्रह्मा के प्रकाश की समाधि दशा में की जाने वाली अनुभूति एक प्रकार की रहस्यानुभूति ही है, क्योंकि तर्क पद्धति से उसका विश्लेषण सम्भव नहीं है। गोरखवानी में कहा गया है –

गगन सिखर महि सबद प्रकास्या। तंह बूझे अलप विनाणी।

— —

वेद न सास्त्रे कतेवे न कुराणे पुस्तके न बच्चांया जाई।
तै पद जानां विरला जोगी और दुनी सब धंधै लाई।।[2]

परमपद या परमतत्व को विरला जोगी इसलिए जानता है कि वह अनुभूतिगम्य है। इस स्तर पर गोरखनाथ और नाथ योगी रहस्यवादी कहे जायेंगे। रहस्यवाद मूल प्रवृति रहस्यमयी सत्ता के साथ साधक की पूर्ण आत्मिक तादात्मय स्थापना है। यह प्रवृति योगीयों में विद्यमान है। व्यष्टि पिंड और विश्व पिंड की एकता का रहस्यज्ञान भी रहस्यवाद का विषय माना जा सकता है। तात्पर्य यह है कि नाथमत में रहस्यवादी प्रवृत्तियाँ है। कहना चाहें तो इसे साधनात्मक रहस्यवाद कह सकते हैं, क्योंकि यहाँ परमतत्व की उपलब्धि का आधार 'प्रेम' न होकर 'योग' है। सन्तों में

---

1. डॉ० कोमल सिंह सोलंकी, नाथ पंथ और संत काव्य, पृ0 197, 198
2. डा0 बड़थ्वाल, गोरखबानी, पृ0 23, पद 1

रहस्यवाद की प्रवृति तो सभी विद्वानों ने लक्षित की है। संत साधक तर्कमूलक विश्लेषणपरक चिन्तन से अधिक बल स्वानुभूति पर देता है। अतः वह मूलतः रहस्यवादी है। संत तर्क करता है तो सामाजिक और व्यावहारिक मुल्यों को लेकर। आध्यात्मिक सत्ता के साथ सम्बन्ध स्थापित करते समय वह स्वानुभूति पर ही बल देता है। प्रत्यक्ष और गोचर जगत से पर–रहस्यमयी सत्ता की प्रतीति, उससे रागात्मक सम्बन्ध (दाम्पत्य सम्बन्ध) और अन्ततः उससे पूर्ण तादात्मय की अनुभूति का वर्णन प्रतीकात्मक पद्धति पर प्रायः सभी सन्तों ने किया है। उस परम सत्ता को प्रिय रूप में अनुभव करते हुए अपने को प्रिया (बहुरिया) मानकर मिलन और वियोग की अनेक अनुभूतियों का वर्णन कबीर ने किया है–

कबीर सुन्दरियौं कहै, सुनि हो कंत सुजानंनं।
वेगि मिलौ तुआइकै, नहितर तजौं परान।।

— —

नैना अंतरि आव तूं, निस दिन निरखूँ तोहि।
कब हरि दर्शन देहुगे, साँदिन आवै मोहि।।
कबीर सुपिनै हरि मिला मोहि सूता लिया जगाई।
आँखि नमीचों डरपता, मनि सुपिनां होई जाई।।[1]

दादू ने भी कहा है –

दादू सुन्दरि सेज परि सदा एक रस होई।
दादू घेले पीव सौं, त समि और नक होई।।

— —

दादू पुरिष हमारा एक है, हम नारी बहु अंगि।
जै जै जैसी ताहि सौं, षैले तिसही संग।।[2]

(गोरखबानी, पृ0 2–3)

---

1. गोरखबानी, पृ0 2
2. वही, पृ0 3

इस प्रकार की रहस्यात्मक अनुभूतियों का चित्रण परवर्ती सन्तों में भी मिलता है अतः सन्तों में रहस्यानुभूति की अभिव्यक्ति नाथ–योगियों की अपेक्षा अधिक हुई है। नाथ मत में परम तत्व से परमपरक सम्बन्ध की स्थापना की प्रवृति न होने के कारण रहस्यानुभूति के विस्तार का प्रश्न नहीं उठता।

नाथ मत और संत मत के तुलनात्मक अध्ययन में यही पर एक बात जो और विचारणीय हो जाती है, वह भक्ति तत्व है। संत मत में परमतत्व और गुरु दोनों के प्रति भक्ति भाव की अभिव्यक्ति हुई है। नाथ–मत में यदि किसी प्रकार की भक्ति का प्रश्न उठता है तो वह है गुरु–भक्ति । अतः नाथ–मत और संत मत में जो प्रधान अन्तर है वह इसी भक्ति तत्व को लेकर है।[1]

संत कबीर की कुछ साख्यिाँ रहस्यात्मक है। साहित्यिक धारणाओं के आधार पर रहस्यवाद उस मनः प्रवृति का प्रकाशन है जो अव्यक्त और सर्वव्यापी परब्रह्मा से परिचित होने के लिए प्रयास करती है। यह मन का गुण है और इसी का प्रकाशन काव्य में होता है। संसार में बहुत से साधकों और चिन्तकों ने रहस्यवाद के विभिन्न रूपों पर विचार किया है। कुछ ने सहज सरल ढंग से ब्रह्मा की अनुभूति को रहस्यवाद कहा है। कुछ चिन्तकों ने अपनी भावनाओं तथा विचारों द्वारा नश्वर की नित्य में तथा नित्य में नश्वर की अनुभूति करने के प्रयास को रहस्यवाद माना है।

काव्य के सम्बन्ध में जयशंकर प्रसाद की धारणा है कि "काव्य आत्मा की संकल्पनात्मक अनुभूति है।" आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार "कविता का सम्बन्ध ब्रह्मा की व्यक्त सत्ता से है, चारों ओर फैले हुए जगत से है, अव्यक्त सत्ता से नहीं। जगत भी अभिव्यक्ति है और काव्य इस अभिव्यक्ति की भी अभिव्यक्ति है।

किन्तु ब्रह्मा पूर्णतया व्यक्त है और न पूर्णतया अव्यक्त है। वह तो व्यक्त और अव्यक्त दोनों ही है इसलिए उसे द्वन्दातीत, अद्वैताद्वैत विवर्जित और अनिवर्चनीय

---

1. डॉ0 मनीषा शर्मा, गोरखबानी– परम्परा और काव्यत्व, पृ0 141, 143

कहा गया है।

डा0 रामकुमार वर्मा के शब्दों में "रहस्यवाद आत्मा की अर्न्तनिहित प्रवृति का प्रकाशन। रहस्यवाद के सम्बन्ध में आचार्य शुक्ल ने जायसी ग्रन्थावली की भूमिका में विस्तृत विवेचन किया है उनका कथन है– अद्वैतवाद मूल में एक दार्शनिक सिद्धान्त है, कवि कल्पना या भावना नहीं। वह मनुष्य के बुद्धि प्रयास का तत्व चिन्तन का फल है।

वहाँ ज्ञान के क्षेत्र की वस्तु है। जब उसका आधार लेकर कल्याण भावना उठ खड़ी होती है अर्थात जब उसका संचय भाव क्षेत्र में होता है तब उच्च कोटि के भावनात्मक रहस्यवाद की प्रतिष्ठा होती है रहस्यवाद दो प्रकार का होता है– भावनात्मक और साधनात्मक। हमारे यहाँ योगमार्ग साधनात्मक रहस्यवाद है। यह अनेक अप्राकृत और जटिल आभासों द्वारा मन को अव्यक्त तथ्यों का साक्षात्कार कराने तथा साधक को अनेक अलौकिक सिद्धियाँ प्राप्त कराने की आशा देता है। तंत्र और रसायन भी साधनात्मक रहस्यवाद है पर निम्न कोटि के।

साधनात्मक रहस्यवाद को डा0 त्रिगुणायत ने भौतिक रहस्यवाद भी कहा है। साधनात्मक रहस्यवाद में सन्तों की कुण्डलिनी योग, षटचक्र, भेदन, त्रिकुटी तथा सहस्रार में आत्मा परमात्मा के अद्वय भाव की कल्पना की गयी है। भावनात्मक रहस्यवाद में विविध उपकरणों की सहायता से आत्मानुभूति का चरम प्राप्त होता है तथा विशुद्ध अनुभूति प्रधान है।

स्वानुभूति की उत्कृष्ट स्थिति की अभिव्यक्ति दुरूह ही है। वह यथार्थ में अभिव्यक्ति परक नहीं। स्वानुभूति में निमज्जित हो जाने पर अन्य समस्त तत्व विस्मृत हो जाते हैं अतः स्वानुभूति की अभिव्यक्ति भी अस्पष्ट हो जाती है और उसी को रहस्यमयी कहा जाता है। सन्तों की यह स्वानुभूति परक अस्पष्ट भावना काव्य में रहस्यवाद के नाम कहा जाता है। सन्तों की इस प्रकार की वाणियों को यद्यपि रहस्यवाद की कोटी में रखा गया है वैसे रहस्यवाद न तो कोई वाद है न सिद्धान्त, उसमें परम सत्ता की प्रत्यक्षानुभूति

का भाव नीहित है। यथार्थ में रहस्यवाद आत्मा की उस अर्न्तनिहित प्रवृति का प्रकाशनान है जिसमेंश्उ'0न्वह दिव्य और अलौकिक शक्ति से अपना शान्त और निश्चल सम्बन्ध जोड़ना चाहती है और वह सम्बन्ध यहाँ तक बढ़ जाता है कि दोनों में अन्तर नहीं रह जाता।

यहाँ एक बात बहुत महत्वपूर्ण है कि रहस्य भावना में अलौकिक शक्ति (परमात्मा तत्व) से सम्बन्ध स्थापित करते समय आत्म तत्व उससे अलग ही कल्पित किया जाता है। क्योंकि सम्बन्ध दो (द्वैत) के बीच ही स्थापित किया जा सकता है एक या अद्वैत के बीच नहीं। यदि अद्वैत है तो किसी भी प्रकार के सम्बन्ध की चर्चा ही नहीं चलती। रहस्यवाद में आत्मा पत्नि या पति रूप में प्रभू प्रेयसी या (प्रियतम) को प्राप्त करने के लिए रूदन करती और उसका नैरन्तर साहचर्य चाहती है। इस प्रकार रहस्यवाद द्वैतवाद या दो की स्थिति है। वास्तव में अद्वैत में विश्वास एक बात है उसकी अनुभूति या प्राप्ति दूसरी रहस्यवाद का यह विश्वास तो होता है कि वह ब्रह्मा से अभिन्न है किन्तु उसकी अनुभूति के लिए वह प्रेम या मधुर सम्बन्ध का सहारा लेता है और अन्त में उसे प्राप्त कर लेता है। ब्रह्मा की प्राप्ति होने पर वह आस्था ही अनुभूति का स्थान ग्रहण कर लेती है और वास्तविक अद्वैत की स्थिति हो जाती है। यह पूर्ण मिलन की स्थिति ही 'बका' 'फना' या तादात्मय की स्थिति है यहाँ रहस्यवाद समाप्त हो जाता है। इस प्रकार जहाँ रहस्यवाद की समाप्ति होती है वहॉ अद्वैतवाद का आरम्भ।

रहस्यवाद में माधुर्य भाव का प्रचार होता है। माधुर्य भाव भरे कथन ही रहस्यवादी काव्य के प्राण है। इस प्रकार निर्गुण एवं मधुरा भक्ति का समन्वित रूप रहस्यवाद है और इन दोनों भक्तियों की समन्वित भाव भूमि पर आत्मा परमात्मा के सम्बन्ध विकास की विभिन्न स्थितियों की साहित्यिक अभिव्यक्ति ही रहस्यवादी साहित्य है। रहस्यवादी भाव, आकर्षण से प्रारम्भ होकर मिलन में समाप्त हो जाता है।

संत साहित्य में मर्मज्ञ विद्वान पं0 परशुराम चतुर्वेदी ने विश्वात्मक सत्ता की प्रत्यक्ष, गम्भीर एवं तीव्र अनुभूति की अभिव्यक्ति को रहस्यवाद माना है। रहस्यवादी

यद्यपि अद्वैतवादी होता है पर वह उस 'तत्व' तक अपनी अर्न्तदृष्टि के सहारे प्रवेश करता है और उसके साथ तन्मयता के आनन्द में मग्न हो जाता है। "परमात्मा तत्व की अनुभूति परिचय प्रायः उसकी तीन विभिन्न स्थितियों के वर्णन द्वारा किया जाता है। सर्वप्रथम उसके लिए विरह जागृत होने की दशा आती है जो गुरु की से ही सम्भव है। दूसरी अवस्था में साधक को परमतत्व का परिचय प्राप्त होता है। 'इस अवस्था में एक प्रकार का विचित्र आहलाद उत्पन्न हो जाता है जो उसे वस्तुतः आन्नद विभोर कर देता है। तीसरी अथवा अन्तिम स्थिति वह स्थिति है जब साधक के जीवन में कायापलट हो जाती है और वह सिद्धावस्था को पहुँच पाता है। "अद्वैतवादी लोग इसी को जीवनमुक्त की दशा कहते हैं और कबीर साहब ने यहाँ तक पहुँचे हुए महापुरूषों को ही 'संत' नाम से अभिहित किया है।

प्रेम रहस्यवादी के लिए आनन्द का स्रोत, जगत का रहस्य और समस्त भूतों की जीवन की शक्ति है। प्रेम के द्वारा ही मनुष्य स्वयं को पहचान कर ईश्वरीय गुणों को आत्मसात् करता है। रहस्यवादी के हृदय में करूणा की अजस्र धारा फूट पड़ने का कारण यही आध्यात्मिक प्रेम है। समस्त देशों तथा कालों के रहस्यवादी साहित्य के अनमोल मोतियों की आभा इसी अलौकिक प्रेम से दिखाई देती है।

कबीर की अनेक साखियाँ विरह मिलन के रहस्यवादी भावों को लेकर कहीं गई हैं। उनकी भक्ति की सर्वाधिक प्रगाढ़ता, सघनता और तीव्रता इन्हीं बानियों में व्याप्त होती है। इन्हीं वाणियों में कबीर ने निराकार अनिर्देश, अलक्ष्य और ज्ञानातीत ब्रह्मा को सच्चे अर्थों में प्रेम का विषय बनाया है। अद्वैतवादी निर्गुण, निराकार के समर्थक तथा समाजिक क्षेत्र में नारी निन्दक होते हुए भी कबीर नारी भाव में ही रमते हुए दिखाई देते हैं कबीर का यह रहस्यात्मक भाव कान्ताभाव या मधुर भावना के रूप में प्रस्फुटित होता हुआ दिखाई देता है। मधुराभक्ति में भगवान को पति रूप में स्वीकार किया जाता है तथा भक्ति पति प्राणा नारी के रूप में उन्हें प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। स्त्री पुरुष के

सन्बन्ध की आध्यात्मिक कल्पना करके भक्त प्रेम विह्वल और आनन्दोल्लसित हो उठता है पदमपुराण में विश्व में केवल भगवान को ही पुरुष बताया है और ब्रह्मा विष्णु आदि समस्त शक्तियों को स्त्री रुप माना है। "गोविन्द एवं पुरुषों ब्रह्माधा स्त्रिय एवच" जीवात्मा ब्रह्मा की चित्शक्ति का अंश है अतः वह भी शक्ति रूप ही है। ब्रह्मा पुरुष है। एक पुरुष की अनेक स्त्रियों की भाँति आत्मायें पत्नि हैं। आत्मा और परमात्मा की भी यही दशा है। ब्रह्मा रूपी पिता आत्मा रूपी पुत्र को माया या सांसारिक प्रलोभन रूपी मिठाई देकर स्वयं अदृश्य हो गया। साधारण आत्मा उसी माया के बंधन में बँधी रह जाती है पर कोई "गौंहनि लग जाने वाली" ही आवेश में आकार माया के बन्धनों को तोड़ फोड प्रेम भाव तीव्रता के साथ परमात्मा तत्व में मिल जाती है यहाँ संत कबीर ने माया मोह को छोडकर दृढ़ता और अटल संकल्प के साथ साधना में तल्लीन होकर तीव्र प्रेमानुभूति के द्वारा परमात्मा तत्व को प्राप्त करने पर बल दिया है। यहाँ संत कबीर यह भावना महात्मा गौतम बुद्ध की उस साधना की याद दिलाती है जिसमें प्रथम बार बोद्धि प्राप्त करने में असफल होकर वे दुबारा आसन पर बैठे थे और उन्होंने प्रतिज्ञा की थी कि "इस आसन पर मेरा शरीर सूख जाय त्वचा, अस्थियाँ और माँस अलग अलग हो जाये, परन्तु युगों–युगों से दुर्लभ बोद्धि के बिना प्राप्त किये यह शरीर अन्यत्र नहीं टलेगा। तभी उन्हें बोद्धि प्राप्त हुई थी। ऐसे ही दृण संकल्प वाले साधक साधना में लीन होकर परम पिता परमात्मा में मिलने का सुअवसर प्राप्त करते हैं।

संत् कबीर की वाणियों में भावात्मक और साधनात्मक रहस्यवाद का मिला जुला रूप प्राप्त होता है। परिचय और मिलन की अनुभूति में साधना की उच्चतर अवस्थाओं तथा गम्भीर उल्लास का प्रतीकात्मक वर्णन प्राप्त होता है। परब्रह्मा के प्रति अन्नय प्रेम, ज्ञान और योग की रहस्यमयी अर्न्तदृष्टि से भरी साधनात्मक अनुभूतियॉ प्राप्त होती हैं। कबीर की योग परक रहस्य भावना पर सिद्धों और नाथों का प्रभाव प्रतीत पूर्णतया होता है।

जो तत्व नाथों की रहस्यमयी धारा में पाये जाते है वही कबीर की रहस्यमयी दृष्टि में देखने को मिलते है। सिद्धों और नाथों ने योग के क्रमिक पक्ष को विशेष महत्व दिया किन्तु कबीर ने योग के मानसिक पक्ष को प्रधानता देकर उसको आध्यात्मिकता से समुपेत किया है –

मन लागा उनमन सौं, उनमन मनहिं विलग।
लूणा विलगा पाणियां, पाणीं लूणा विलग।।
सुरतिं समांनी निरति मैं निरति रहि निरधार।
सुरति निरति परचा भयो, तब स्यंभ दुबार।।

इस प्रकार रहस्यात्मक अनुभूतियों का चित्रण सन्तों में अधिक हुआ है। अतः सन्तों में रहस्यानुभूति की अभिव्यक्ति नाथ योगियों की अपेक्षा अधिक हुई है। नाथ मत में परम तत्व से प्रेमपरक सम्बन्ध की स्थापना की प्रवृति न होने के कारण रहस्यानुभूति के विस्तार का प्रश्न नहीं उठता।[1]

(च) <u>नैतिक और सामाजिक मूल्य :</u>

जहाँ तक नैतिक और सामाजिक मूल्यों का प्रश्न, नाथ और संत मत में विशेष अन्तर नहीं है। ब्रह्माचार का खंडन, जातिगत भेदभाव की व्यर्थता, पुस्तक ज्ञान एवं शास्त्रज्ञान की अनुपयोगिता, शुद्धाचरण पर बल, स्त्री जाति को माया मूर्ति मानना, कथनी करनी की एकता पर बल तीर्थ वृत का विरोध, आदि बातें नाथों और सिद्धों दोनों में समान रूप में पायी जाती है। उच्चवर्गीय ब्रह्मण संस्कृति के प्रति विरोध की प्रवृति योगियों से और पहले की है। नाथपंथ इस वर्णाश्रम व्यवस्था विरोधी सांस्कृतिक धारा की एक महत्वपूर्ण कढ़ी है। संत मत में यह प्रवृति नाथ परम्परा से आयी। इस विषय में नाथों और सन्तों में अन्तर यह है कि सन्तों के उद्‌भव काल में नाथ योगी ब्रह्माचार और प्रदर्शन में उलझ गये थे। अतः सन्तों को उनका भी विरोध करना पड़ा। कबीर का योग तत्व से विरोध नहीं था, विरोध इन योगियों से था जो योग के नाम पर या तो कृच्छ

---

1. डॉ0 नीजर मुहम्मद, कबीर के काव्य रूप पृ0 221–223 एवं 197–195 व 201

साधनों में उलझ गये थे या बड़े बड़े मठाधीश बनाकर भोग विलास का जीवन व्यतीत करने लगे थे। परवर्ती सन्तों में विरोध की प्रवृति क्रमशः कम होती गयी और समझौते की प्रवृति विकसित हुई।[1]

समग्र अध्ययन के आधार पर कहा जा सकता है कि भावबोध की दृष्टि से संतों पर नाथों का गहन प्रभाव है। यह तो नहीं कहा जा सकता कि नाथों का और संतों का भावबोध एक ही है किन्तु इतना अवश्य है कि दोनों के भावबोध में महत्वपूर्ण समानताएँ हैं। "गोरखबानी" में व्यक्त गुरु का महत्व, रहस्यानुभूति, रूढ़िविरोध आदि संतों की रचनाओं में भी मिलते हैं। भावबोध की दृष्टि से नाथों और सन्तों में महत्वपूर्ण अंतर भक्ति का है। "गोरखबानी" का मूल प्रतिपाद्य जहाँ योग है वहाँ संतों के लिये भक्ति वरेण्य है।

---

1. डॉ0 मनीषा शर्मा, गोरखबानी– परम्परा और काव्यत्व, पृ0 143

अध्याय : 5

गोरखबानी का सन्त काव्य पर प्रभाव–भाषा की दृष्टि से

गोरखबानी उन प्रारम्भिक कृतियों में से है जिनमें हिन्दी भाषा का प्रारम्भिक स्वरूप स्पष्टतः परिलक्षित होता है। आपभ्रशेत्तर भाषा के रूप की जानकारी के लिए इस ग्रन्थ का अत्यधिक महत्व है। इस समय के सिद्ध साहित्य तथा नाथ साहित्य की भाषा क्रा व्यापक प्रभाव सन्तों पर पड़ा है। "गोरखबानी" की भाषा जहाँ खड़ी बोली हिन्दी के आदि स्वरूप को स्पष्ट करती है, वहीं कबीर, दादू आदि सन्तों की भाषा को भी हृदयगम कराने में विशेष योग देती है। बौद्ध सिद्धों और कबीर आदि सन्तों के बीच कम से कम तीन शताब्दियों का जो अंतराल है, उसे नाथपंथी साहित्य ने भरा है।

डा0 बड़थ्वाल ने 'गोरखबानी' की भाषा के सम्बन्ध में प्रकाश डालते हुए 'योग प्रवाह' शीर्षक निबन्ध में लिखा है –

"अब प्रश्न यह उठता है कि गोरखनाथ की जो रचनाएँ उपलब्ध हुई हैं, वे उतनी पुरानी है या नहीं? इसमें संदेह नहीं कि उनमें प्राचीनता के चिन्ह हैं।"[1]

प्राचीनता को सिद्ध करने के लिए उन्होंने 'ससिहर', 'अम्हें', 'महियल', तुम्हें आदि प्रयोगों का उल्लेख किया है।

पं0 रामचन्द्र शुक्ल ने 'गोरखबानी' की भाषा के सम्बन्ध में अपना अभिमत इस प्रकार दिया है –

"इस ग्रन्थ का प्रचार राजपूताने तथा पंजाब की ओर ही अधिक रहा। अतः जब मत के प्रचार के लिए इस पंथ में भाषा के भी ग्रन्थ लिखे गये तब उधर की ही

---

1. योग प्रवाह, पृ0 62

प्रचलित भाषा का व्यवहार किया गया। उन्हें मुसलमानों को भी अपनी भाषा सुनानी रहती थी, जिनकी बोली अधिकतर दिल्ली के आसपास की खड़ी बोली थी। इससे उनका मेल भी उनकी बानियों में अधिकतर रहता था। इस प्रकार नाथ पंथ के इन योगियों ने परम्परागत साहित्य की भाषा या काव्य–भाषा से, जिसका ढाँचा नागर अपभ्रंश का था अलग एक 'सधुक्कढ़ी' भाषा का सहारा लिया जिसका ढाँचा कुछ खड़ी बोली को लिये राजस्थानी था।"[1]

डॉ0 मोहन सिंह के अनुसार, "गोरखबानी– की भाषा खड़ी बोली या संतभाषा कही जा सकती है जिस पर क्षत्रिय, राजपूत, अहीर, गुर्जर एवं निम्न वर्गों का स्पष्ट प्रभाव है।"[2]

किन्तु 'गोरखबानी' की भाषा को इस प्रकार विशिष्ट जातियों से जोड़ना समीचीन प्रतीत नहीं होता। सुप्रसिद्ध साहित्यकार डा0 रामकुमार वर्मा ने भी 'गोरखबानी' की भाषा पर टिप्पणी करते हुए स्वीकार किया है।

"इस प्रकार नाथपंथ को हम सिद्ध युग और संत युग के बीच की अवस्था मान सकते हैं– गोरखनाथ ने अपने नाथपंथ के प्रचार के लिए जनसमुदाय की भाषा का आश्रय ग्रहण किया। गौतम बुद्ध ने भी अपने मत का प्रचार संस्कृत को छोड़कर जन समुदाय की भाषा पाली में किया था। सर्वसाधारण को अपने सिद्धान्त समझाने के लिए गोरखनाथ की जनभाषा में कुछ लिखने के लिए बाध्य हुए।"[3]

डॉ0 रांगेय राघव ने गोरख की भाषा पर मत देते हुए उसमें अनेक बोलियों का पुट स्वीकार करते हुए उसे सधुक्कड़ी माना है, जिसमें संस्कृत, फारसी का भ्रष्ट प्रयोग, खड़ी बोली, राजस्थानी एवं ब्रज का अपूर्व मिश्रण तथा बंगाली, गुजराती, भोजपुरी, यहाँ तक की नेपाली के भी प्रयोग मिलते हैं। भाषा के निर्णय पर उनका मत

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास, सृ0 20002, पृ0 15, 16
2. गोरखनाथ एण्ड मिडिवल हिन्दू मिस्टिसिज्म, पृ0 3
3. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ0 108,110, 111

इस प्रकार है –

"यह भाषा उस युग की कदापि नहीं है जिसमें गोरखनाथ थे। बहुत से लोग उन्हें 12वीं शती का मान लिया करते हैं, किन्तु तो भी यह निःसन्दिग्ध रूप से नहीं कहा जा सकता है कि यह भाषा उस काल की है वैसे सन्तों की यह भाषा 14वीं शताब्दी की प्रतीत होती है जिसमें लिखे जाने के पूर्व 15वीं और 16वीं शती का भी प्रभव आ गया है।"

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने गोरखनाथ की भाषा को पूर्वी के अधिक निकट स्वीकारा है। जिस रूप से 'गोरखबानी' हमें उपलब्ध है यह प्राचीन ही है, ऐसा कहा जा सकता है। डा0 मोहनसिंह द्वारा संपादित 'गोरखबोध' की भाषा डा0 बड़थ्वाल–संपादित उसी ग्रन्थ की भाषा से भिन्न है। इन पदों में पंजाबीपन भी कहीं–कहीं मिलता है, परन्तु अनेक पदों में ऐसे प्रयोग मिलते हैं जो पूर्वी हैं .... वस्तुतः गोरखनाथ का साधना क्षेत्र गोरखपुर के आसा पास रहे। उनका प्रचार–क्षेत्र बहुत विस्तृत था। यह कामरूप से काबुल तक फैला हुआ था। उन दिनों उत्तर भारत में दो प्रबल राजशक्तियाँ थी– कन्नौज के प्रतिहार और गौड़ के पाल। पहली राजशक्ति संस्कृति साहित्य की आश्रयदायी थी और दूसरी देशभाषा के साहित्य की। इसलिए उन दिनों सिद्धों की लोकभाषा में पूर्वी प्रयोगों की प्रचुरता है। यह पूर्वी भाषा जिस रूप में उपलब्ध है उसमें भोजपुरी, मगही, बंगला, नेपाली, उड़िया आदि भाषाओं के बीज हैं।

'गोरखबानी' की भाषा का सीध सम्बन्ध मध्यदेश की भाषा से है जिसके सम्बन्ध में सुप्रसिद्ध भाषाविद डा0 सुनीति कुमार चाटुर्ज्या ने लिखा है "मध्यदेश वास्तव में भारत का हृदय एवं जीवन संचालन का केन्द्र स्थान था। वहाँ के निवासियों के हाथ में, एक तरह से, अखिल भारतीय ब्रह्माणीय संस्कृति का प्राथमिक सूत्रपात था, तथा हिन्दू जगत के पवित्रतम देश के रूप में मध्यदेश की महत्ता सर्वमान्य थी। परम्परा एवं इतिहास द्वारा वर्णित सार्वभौम साम्राज्यों के केन्द्र मध्यदेश सन्निकेट के क्षेत्रों में रहे हैं। मध्यदेश

की यही भाषा भारतीय संस्कृति का मूलाधार थी और गोरखनाथ ने उसके स्वरूप को और अधिक निखारा। नाथ सम्प्रदाय के साथ–साथ चर्तुदिक इस भाषा का विस्तार हुआ जिसको तत्कालीन परिस्थितियों में राष्ट्रभाषा कह सकते हैं। अन्य क्षेत्रीय भाषाओं के उभरने पर भी उसकी यह धारा रुकी नहीं, वह अर्न्तधारा के रूप में रही, बीच–बीच में 'कुतुबशतक', खुसरों की पहेलियों, कबीर की साखियों आदि में उभरकर आती रही। यह सच है कि भक्ति–काल में नाथों की यह व्यापक राष्ट्रीय भाषा मरी नहीं, लुप्तप्राय रही।"[1]

गोरखनाथ ने जिस भाषा को अपनाया वह अपभ्रन्शोत्तरकालीन भाषा थी, जिसका विकास 10–11वीं शती में आरम्भ हो गया और आज इस भाषा का स्वरूप 'राउरवेल', 'प्राकृतपैगलम्' आदि में देखा जा सकता है। डा0 कैलाशचन्द्र भाटिया के अनुसार 'प्राकृतपेगलम्' में गोरखनाथ की भाषा के सूत्र देखे जा सकते है। भाषा का सही रूप उत्तर काल में विधापति कृत 'कीर्तिलता' में सुरक्षित है। 'उक्तिव्यक्तिप्रकरण' तथा 'वर्णरत्नाकर' की भाषा पर क्षेत्रीय उपक्रमों का व्यापक प्रभाव पड़ा था। अतः वह अपभ्रन्शोत्तर काल की भाषा के विकास की कढ़ियों को ढूढ़ने में सहायता अवश्य करती है, पर गोरखनाथ की भाषा के स्वरूप को सुरक्षित न रख सकीं।

नाथों पर बौद्ध साहित्य का व्यापक प्रभाव पड़ा, जिसके फलस्वरुप नाथों के प्रतीक, विचार तथा उनकी भाषा प्रभवित रही। बौद्ध संकर संस्कृत को मूलतः एक प्राचीन मध्यकालीन लोक भाषा पर आधूत माना गया। डा0 एल0बी0राम अनन्त ने इस भाषा से नाथों की भाष का सम्बन्ध स्थापित करते हुए कुछ निष्कर्ष निकाले हैं। उनके अनुसार नाथ सिद्धों की वानियों की भाषा पर जब इस संकर संस्कृत के सादृश्य को ध्यान में रखकर विचार करते हैं तो कई महत्वपूर्ण तथ्यों का उद्‌घाटन होता है। पहला तथ्य यह है कि नाथों में संकर संस्कृत के विषय में एक नयी प्रतिक्रिया उत्पन्न हुई है

1. भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी, पृ0 191

और वह है – 'संकर संस्कृत' को लोक भाषा के समीप लाने की प्रक्रिया। नाथों के परवर्ती साहित्य में संस्कृत का रंग देने की प्रवृति क्रमशः दृढ़ होती रही, किन्तु आरम्भ में यह वैसी नहीं है। यह बात कुछ उदाहरणों से स्पष्ट की जा सकती है। मत्स्येन्द्रनाथ जो सिद्धों और नाथों के मिलन बिन्दु हैं, एक पद में लिखते हैं –

कहन्ति गुरु परमार्थेर घाट। कर्म कुरंग समाधि कपाट।।

कमल विकसिण कहिहर अमरा। कमलमधु पिपिवि थोके भमरा।।[1]

यह छन्द विधान निश्चय ही संकर संस्कृत के नये रूप को प्रस्तुत करता है। यह दसवीं शती की अपभ्रन्श परम्परा में नहीं है। इसमें गुरु परमार्थ, कर्म, कुरंग, समाधि, कपाट, कमल, मधु–संस्कृत के तत्सम शब्द हैं जिनको लोक भाषा के समीप लाया गया है। परमार्थेर में बंगला का घिसा हुआ प्रत्यय है। विकसिल दिपिपि भी बंगला के विकसित रुप ही हैं।[1]

यह बात उत्तर के सन्तों के साथ ही नहीं, महाराष्ट्र के सन्तों की भाषा भी देखी जा सकती है। महाराष्ट्र के सन्तों ने जिस भाषा को अपनाया वह तत्कालीन परिस्थितियों में राष्ट्रभाषा ही थी। यहाँ एक बात ध्यान देने योग्य है। वह यह है कि देश भर की राष्ट्र भाषा हिन्दी की व्यापकता देखकर हिन्दीतर भाषाओं के विद्वान और महात्मा भी उसके माध्यम से अपने सिद्धान्त और संदेश का अधिकाधिक प्रचार करना चाहते थ।[2] संत ज्ञानेश्वर के समकालीन या पूर्ववर्ती महादायिता की भाषा का स्वरूप इस प्रकार है–

हाट चौहटाँ पड़ रहूँ हो, माग पंच पर भिच्छा।

वापुड़ छोक मौरी अवस्था कोई न करी मौरी चित्ता लो।।[3]

यह भाषा निश्चित रूप से गोरखनाथ की भाषा से मेल खाती है। नामदेव की काफी हिन्दी रचनाएँ प्राप्त हैं। इस प्रकार व्यापक क्षेत्र में इस भाषा का प्रभाव पड़

1. हिन्दी नाथ साहित्य की भाषा (अप्रकाशित शोध–प्रबन्ध), पृ0 87, 88
2. हिन्दी को कराठी सन्तों की देन (प्रथम संस्करण), पृ0 85
3. वही, पृ0 85

चुका था और कम से कम सन्तों के द्वारा ज्ञानोपदेश का माध्यम बन चुकी थी।[1]

'गोरखनाथ' की भाषा सधुक्कड़ी कही गयी है। गोरखनाथ की भाषा में कोई दुराव–छिपाव नहीं है। गोपान–वृत्ति उसमें दूर दूर तक नहीं मिली। इस अध्याय के प्रारम्भ में कहा जा चुका है कि 'गोरखवानी' न केवल एक काव्यकृति है, बल्कि एक काव्य परम्परा की जन्मदात्री है। विवेच्य कृति से हिन्दी काव्य की वह भाषा प्रारम्भ होती है जिसमें चमक से ज्यादा खनक पर जोर है।

गोरखनाथ स्वतन्त्र थे उनकी भाषा में कवि स्वतन्त्र का भरपूर उपयोग है। उनकी भाषा में एक संभ्रान्त कवि के स्थान पर एक अक्खड़ सिद्ध बोलता है। भाषा की यह गोरखी परम्परा कबीर आदि सन्तों से होती हुई निराला और मुक्तिबोध तक चली आयी है। 'सुन वे गुलाब' जैसी अभिव्यक्ति को 'सुणहु रे अवधू' जैसी अभिव्यक्ति परम्परा के सन्दर्भ में ज्यादा अच्छी तरह समझा जा सकता है।

सधुक्कड़ी भाषा की जो परम्परा गोरख ने प्रारम्भ की उसमें तत्सम् तद्भव की मीन–मेख, व्याकरण की मर्यादा आदि खोजना व्यर्थ है। वह एक जीवन्त भाषा है – लोक प्रचलित शब्दों, उपमानों, लोकोक्तियों और मुहावरों से लैस। गोरख की भाषा सपाट और पैनी है। उसमें मुहावरों और लोकोक्तियों का बड़ा ही शसक्त प्रयोग हुआ है और उनके द्वारा खरी अनुभूतियों की सप्रभव अभिव्यंजना है। कुछ उदाहरण लिये जा सकते हैं –

> हबकि न बोलिवा, ठबकि न चलिबा, धीरे धारिवा पांव।
> गरब क करिबा सहजे रहिबा, भगंत गोरखप रांव।[2]

— —

1. डॉ0 मनीषा शर्मा, गोरखबानी– परम्परा और काव्यत्व, पृ0 73–76
2. गोरखबानी, पृ0 11

लंका छाड़ि पलंका जाइबा, तब गुरमुष लेइबा वाणी।[1]

इतना ही नहीं, कभी–कभी तो वे इन लोकोक्तियों और मुहावरों की भाषा में अपने सिद्धान्तों की व्याख्या भी करने लगते हैं –

रति का काम मासे की चोरी, रती में मासा चौरे।[2]

इसके साथ ही वे शैली में नाटकीयता का अंश भी घोल सकते हैं – कल मानों घोषणा करता फिरता है, चैलेन्ज देता फिरता है कि संसारी जीव उससे निकलकर कहाँ जायेगा? वह आशवस्त है कि उसने भव–जाल फैला रखा है किन्तु गोरख का उसमें भी चैलेन्ज है –

ऊभा मारु बैठा, मारु जागत सूता।
तीनि लोक भव जाल पसारया कहाँ जाइगो पूता।
ऊभा षंडो बैठा षंडो, षडों जागत सूता।
तिहूँ लोक ते रहूँ रिंतरि तो गोरष अवधूता।[3]

काल खड़े, बैठे, सोते–जागते, मारने की धमकी देता है। गोरख भी खड़े बैठे ही नहीं, जागते ही नहीं सोते में भी, संसार से अलगपलायन करके नहीं, इस संसार में निरंतर घुल–मिलकर भी इस काल के टुकड़े–टुकड़े कर डालेंगे। भाषा में इस प्रकार की संवादिता गोरख को प्रिय रही है।

संवाद शैली के अतिरिक्त उन्होंने सम्बोधन शैली का भी उपयोग किया है। जिससे वक्तव्य वस्तु एवं वक्तव्य भाव दृश्यमान सा हो उठा है। कभी वे अवधू को सम्बोधित करते हैं, तो कभी पंडित को। कभी उनका लक्ष्य काजी–मुल्ला है तो कभी नाना पंथों पर चलने वाले भटके हुए लोग।

---

1. गोरखबानी, पृ0 23
2. वही, पृ0 92
3. वही, पृ. 34,35

आवश्यकतानुसार व्यंग्य की छटा भी दिखाई दे जाती है। वे चित नहीं देते, पर रेखाचित्र भी नहीं देते— ऐसा कहना उनके अभिव्यक्ति गुणों के प्रति हृदयहीनता ही होगी।

बड़े—बड़े कूल्हे मोटे—मोटे पेट।
नहीं रे पूता गुरु से भेंट।[1]

संतुलित काव्य—योजना और शब्द योजना के द्वारा वे अपनी अभिव्यक्ति को प्रभावात्मक बनाते हैं —

कोई वादी कोई विवादी;
जोगी को वाद न करना।[2]
न्यांद्रा कहै मैं अलिया बलिया;
ब्रह्मा विष्नू महादेव छलिया।[3]

वे अपनी अभिव्यक्ति को चिकनी बनाने के लिए शब्द भी गढ़ सकते हैं— सुहेली, दुहेली, एकटी—वकटी ऐसे ही गढ़ गये हैं।

भाषा में नादात्मकता एक गुण उत्पन्न करती है और अभिव्यक्ति की प्रेषणीयता में सहयोग देती है। गोरख भाषा की इस शक्ति से परिचित हैं —

सारमसारं गहर गभीरं गगन उछलिया नदं।
मानिक पाया पपोरि लुकाया झूठा वाद विवादं[4]
महमंद महमंद न करि काजि महमंद का विषय विचारं।
महमंद के हाथ करद जे होती, लोहे घड़ी न सारं।[5]

---

1. गोरखबानी, पृ0 38
2. वही, पृ0 5
3. वही, पृ0 35
4. वही, पृ0 4
5. वही, पृ0 4

अनुप्रास विधान द्वारा भी भाषा को यथासाध्य आकर्षक बनाने की ओर गोरख की दृष्टि रही है। सर्वत्र न सही, अनेकतत्र अनुप्रासों के विविध रूप मिलेंगे। अर्ध–पद यमक भी मिल जायेंगे। तात्पर्य यह है कि भाषा के बाहरी आकर्षण में भी गोरख का यदा कदा लगाव मिल जाता है। कुछ उदाहरण लिये जा सकते है –

(क) ऊरम धूरम ज्वाला जोति। सूरज कला ना छीपे छोति।
कंचन कमल किरणि परसाई। जल मल दुरगंध सर्व सुषाई।

(ख) घटि–घटि सूर्ण्या ग्यान न होई। बनि बनि चंदन रूप न होई।[1]

अभिव्यंजना के प्रसंग में ही कतिपय ऐसे स्थलों की ओर संकेत करना चाहेंगे जिनमें गोरख ने अनेक प्रचलित शब्दों की मौलिक निरूक्तियाँ प्रस्तुत करते हुए व्यर्थ चमत्कार उत्पन्न किया है।

उदाहरण स्वरूप निम्नलिखित बानियाँ प्रस्तुत की जा सकती हैं–

(क) धुतारा ते जे धूते आप, मिथ्या भोज, नहीं संताप।

(ख) घरबारी सो घर की जाणें, बाहरि जाता भीतरि आणें।
सख निरंतरि काटै माया। सो घरबारी कहिये निरंजन की काया।

(ग) गिरही सो जों गिरहूँ काया। अभिअंतर की त्यागै माया।
सहज साधु का धरे शरीर। सो गिरहि गंगा का नीर।

(घ) पाषंडी सो काया पषाले। उलटि लगनि प्रवाले।
व्यंद न देई सुपणें जान, सो पाषंडी कहिए तत समान।

(ङ) संन्यासी सोई करै सर्वनास, मंडल में मांड आस।
अनहद सूं मन उनमन रहे, सो संन्यासी अगम की कहैं।

(च) दरवेस सोइ जो दर की जाणें। पंचे पवन अमूण आणें।
सदा सुचेत रहे दिन राति। सो दरबेस अलह की जाति।

---

1. गोरखबानी, पृ0 57, 58

इन व्युत्पत्ति मूलक उक्तियों में कोई व्याकरणिक अथवा शास्त्रीय आधार नहीं है, केवल आपाततः प्रतीत होने वाले अर्थ को पकड़कर एक नवीन अर्थ–योजना का चमत्कार प्रस्तुत किया गया है।

गोरखबानी की भाषा में लक्षणा का प्रयोग दुरूह है। उसका प्रमुख क्षेत्र विरोधातम्क स्थल और उलटवासियाँ है। इसी प्रकार प्रतीकात्मक शब्दों के प्रयोग की स्थिति है। बात यह है कि ऐसे स्थलों में मुख्यार्थ–वाध्य होकर येन–केन–प्रकारेण मुख्यार्थ–योग की शर्त तो पूरी होती है, किन्तु एक विशेष प्रकार की अर्थ रूढ़ियों के द्वारा होती है जो काव्य क्षेत्र और समाज दोनों ही के लिए परिचित नहीं है। इसलिए लक्षणाओं के ऐसे प्रयोग प्रचाता के लिए दुरूह हो जाते हैं।

कहीं–कहीं लाक्षणिक क्रियाओं के प्रयोग से अमूर्त विषयों का मूर्तीकरण भी मिल जाता है–

अवधू अहार कूं तोड़िवा, पवन कूं मोड़िवा,
ज्यूं कबहूं न होइगा रोगी।[1]

गोरखबानी के काव्य–गुणों की स्थिति पर विचार करने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि प्रसाद गुण की स्थिति एक सीमित मात्रा में अवश्य उपलब्ध है।

ऐसे प्रसाद पूर्ण अर्थ–वैमल्य से युक्त वचनों की माचा 'गोरखबानी' में 30 प्रतिशत से किसी भी प्रकार कम नहीं कही जा सकती। इन वचनों में अविधा धर्मी भी हैं और व्यंजना–धर्मी भी–

मन में रहिणां, भेद न कहिणां, बोलिवा अमृत वांणी।
आगिला अगिनी होइगा अवधू, तो आपणा होइवा पांणी।।[2]

प्रसादमयी इस वाणी की सर्वजन–संवेद्यता एवं काव्यात्मकता अत्यन्त ही

---

1. गोरखबानी, पृ0 70
2. वही, पृ0 23

सहज है। अप्रस्तुत विधान भी सहज और मार्मिक है। भव और रस की धारा चाहे न हो, किन्तु वाणीकार के पास कुछ कहने को अवश्य है –

कै मन रहे आसा पास। कै मन रहे परम उपास।
कै मन रहे गुरु को ओले कै मन रहे कांमनि के षोले।[1]
जे आसा तो आपदा जे संज्ञा तो रोग।
गुरु मुसि बिना न भाजिसी ये दून्यों बड़ रोग।[2]

रसाग्रही ऐसी प्रसाद सम्पन्न उक्तियों को सूक्ति कहकर ही छोड़ सकते हैं, किन्तु इनका काव्यत्व इनके जन–जीवन को स्पर्श कर सकने की क्षमता में ही निहित है।

उलटवासियों रूपकातिशयोक्तियों तथा सिद्धान्ती उक्तियों में प्रसाद गुण की स्थिति अत्यन्त क्षीण अथवा अभावात्मक है। माधुर्य की स्थिति भी लगभग ऐसी ही है, किन्तु उसे अनेकतत्र पाया जा सकता है। यह माधुर्य अनेकतत्र मधुर वर्ग–पद योजना द्वारा अथवा गीत की गति अथवा लय के द्वारा छिटकाया गया है। एक उदाहरण देकर यह बात स्पष्ट की जा सकती है –

सोना ल्यो रस सोना त्यों मेरी जाति सुनारी रे।
धंमणि धनी रस जांमणि गाया
तब गगन महा रस मिलिया रे।
आपे सोनां आप सुनारी, मूल चक्र अंगीठा।
अहरणि नाद ने व्यंद हथौड़ा, घटिस्यू गगन बईढ़ा।[3]

प्रस्तुत पद में शब्दावली और गीति लय का माधुर्य है। वह नाथ योगियों

1. गोरखबानी, पृ0 58
2. वही, पृ0 74
3 वही, पृ0 92

के चिमटे धुन पर तो बहुत मस्ती के साथ गाया ही जा सकता है। इन पदों में सामान्यतः टेक का प्रयोग हुआ है, जैसे –

गोरष लो गोपालं लो, गगन गाई दृहि पीवै लो।
मही बिरोलि अमी रस पीजै, अनभै लागा जीजै लो (टेक)
तत बोली लो तत बोली लो, अवधू गोरखनाथ जांणी।
डाल न मूल पहुप नहीं छाया, विरधि करे बिन पांणी।

इन टेकों की पद के प्रत्येक बंद के साथ पुनरावृति अपेक्षित है। यह आवृति पद को लयात्मक और गेय तो बनाती ही है, वक्तव्य के आसपास भले ही वह प्रकृत्या गीत–धर्मी न हो, एक मधुरता का जाल तो बुनाती ही है।

लय गीतात्मक टेकों में ही नहीं, छन्द के प्रत्येक बंद में प्रवाहित रहती है और अपना शिल्प–धर्मी उत्तरदायित्व निभाती हैं। कभी–कभी इन पदों में गीत के ओज की भी झलक मिलती है।

भाषा के उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि सिद्धों और नाथों की भाषा का वैशिष्ट्य उसकी सहजता और साधुता में है। गोरखनाथ भाषा के सम्बन्ध में किसी आग्रह को लेकर नहीं चले। उनकी भाषा उनकी अनुभूति के अनुरूप एक खरापन लिये हुए है। भाषा की लयात्मकता का उन्होंने सम्यक ध्यान रखा है। इसीलिए अनुप्रास और वर्ग मैत्री के उदाहरण उनके काव्य में प्रायः मिलते हैं। उनकी भाषा एक जीवन्त भाषा है, जिसमें मुहावरों के काव्यात्मक प्रयोग हुए हैं।

सिद्धों और नाथों को अलंकारों के सायास प्रयोग से विशेष सरोकार न था, किन्तु चित्त की समंजित अवस्था से प्रस्फुटित होने के कारण उनकी वाणी सहजता अलंकृत है। 'गोरखबानी' के अलंकार विधान का वैशिष्ट्य उनकी अनायसता में निहित है।

'गोरखबानी' में दो प्रकार के अलंकारों का प्रामुख्य है– सादृश्यमूलक

अलंकारों में रूपक, और विरोधमूलक अलंकारों में विरोधाभास, रूपकों का प्रयोग निरंग भी हुआ है औ सांग भी। रूपकातिश्योक्ति की सामग्री अनेकतत्र उनके सम्प्रदाय निष्ठ क्षेत्रीय प्रयोग के कारण घिस–पिट कर उनके लिए सहज, अन्यों के लिए असहज, प्रतीक विधान के रूप में आयी है और बहुतायत से आयी है। यह प्रतीक प्रयोग एकमात्र तक ही स्वाभाविक रह पाया है। सामान्यतः यह दुर्गम्य है। अतः ऐसे स्थलों का काव्यात्मक मूल्य संदिग्ध है। यहाँ विभिन्न अलंकारों का विवेचन किया जा रहा है –

<u>रूपक :</u> 'गोरखबानी' में रूपकों का प्रायः प्रयोग किया गया है। अनेक कारणों से ये रुपक आकर्षण बन पड़े हैं। एक तो आरोपण की सामग्री जीवन के बीच से चिर–परिचित वस्तुलोक से उठायी गयी अधिक है, दूसरे, उसका सांग–विधान जब–जब हो जाता है, विषय बोध में यथासाध्य सहायक होता है। निरंग रूपक तो काव्य में यत्र तत्र बिखरे हैं ही, किन्तु सांग रूपकों का जैसा प्रचुर विधान किया गया है, उसे देखकर यह अनुमान दृण हो जाता है कि काव्य कला के प्रति विरक्त रहकर भी सिद्धों और नाथों में किस प्रकार अप्रस्तुतों के प्रयोग की एक परम्परा बन रही थी।

सांग रूपक जब लोक जीवन से अप्रस्तुतों का ग्रहण कर ऐसे विषय के साथ सम्बद्ध होता है जो हठयोगी–साधना के क्षेत्र का है, तो विषय वस्तु की धुँधलाहट के कारण एक सीमित मात्रा तक ही उक्ति का उपकार कर पाता है। एक उदाहरण लिया जा सकता है –

अवधू ऐसा नग्र हमारा, तिहां जोवौ हुज द्वारं।
उरध अरध बजार है, गोरष कहे विचारं
हरि प्राणं पातिसाह ताह विचार काजी।
पंच तत से उजहरदार मन पवन दोऊ हस्ती घोड़ा
गिनानं ते अषै भंडार।।

शास्त्र और लोक में देह गढ़ का रूपक प्रख्यात रहा है। यहाँ उसी का

उपयोग किया गया है। यों अप्रस्तुत विधान की दृष्टि से गोरष ने अपने युग के मुस्लिम शासन का पूरा नक्शा प्रस्तुत कर दिया है। संत कवियों और सूफी कवियों को देह गढ़ काया नगरी का रूपक विशेष प्रिय रहा है। 'गोरखबानी' में कहीं–कहीं आरो विधान बड़ा सटीक है, जैसे –

सप्त धात का काया पींजरा, ता मांहि जुगति बिन सूवा।
सतगुरु मिले तो ऊपरे बाबू, नहीं तो पर लै हूवा।।
कंद्रप रूप काया का मडण, अबिरथा काई उलीचौ।
गोरष कहै सुणों रे भोंदू, अरंड अमीं कित सीचौ।।

भारतीय परम्परा में आत्मा को पंथी और देह को पिंजरा माना गया है। आत्योद्धार गुरु के बिना संभव नहीं है। लोकजीवन के अप्रस्तुतों का एक अन्य प्रयोग दृष्ट्व्य है –

सहज पिलाणं पवन करि घोड़ा, ले लगाम चित चब काई।
चेतन असबार ग्यानं गुरु करि, और तजौ सब ढब काई।

सहज जीवन पवन का घोड़ा, लय की लगाम, चित का चाबुक, ज्ञान गुरु और चेतन सवार–फिर साधना की यात्रा सिद्ध होती ही है।

<u>रूपकातिश्योक्ति :</u> यह अलंकार भी गोरख ने प्रचुरता से अपनाया है। यहाँ अभिव्यक्ति अपेक्षाकृत जटिल है। इसका प्रयोग भी सांग और निरंग– दोनों ही रूपों में पाया जाता है। एक उदाहरण सांग स्थिति का लिया जा सकता है –

गोरख लो गोपाले लो, गगन गाई दुहि पीवै लो,
मही बिरोलि अमी रस पीजै, अनभे लागा जीजै लो।
ममिता बिनां माई मुइ, पिता बिना मूवा छोरु लो,
जाति बिहूना लाल ग्वालिया, अहनिस चारे गोरु लो।
अनहंद सबदै संष बुलाया, काल महादल दलिया लो,

काया कै अंतरि गगनमंडल में सहजे स्वामी मिलिया लो।

ऐसी गावत्री घर वारि हमारै, गगन मंडल में लाधी लो।

इहि लागि रहया परिवार हमारा, लेई निरंतर बांधी लो

काना पूंछा सींग बिवरजित, बनीविवरजित गाई लो,

मछिंद्र प्रसादे जाति गोरख बोल्या, तहाँ रहनै लो ल्याई लो।[1]

इस पद में रूपक, रूपकातिशयोक्ति तथा विरोधाभास तीनों काम कर रहे हैं, कहीं–कहीं वस्तु पक्ष निरलंकृत भी झलक जाता है। अप्रस्तुत सहज परिचित है– ग्वाले और गाय का। गोरख–ग्वाले और गगन–गाय के आरोप से प्रारम्भ किया गया है, किन्तु गगन को प्रतीक के रूप में प्रस्तुत करने के कारण अस्पष्टता प्रारम्भ में ही आने लगी है। इनसे अस्पष्टता कुछ बढ़ी तो वस्तु पक्ष को सीधे से रखकर कवि वक्तव्य को "अनहद सवदै संष बुलाया, काल महादल दलिया लो" कहकर सहज बनाना चाहता है। अन्त में विरोधामाँष का वाक्य आश्रय लेता है– "काना पूंछा सींग विवरजित बर्न विवरजित गाई लो"। इसे आप चाहे अतिरेक के खाने में रखिए चाहे किसी और के में, चमत्कार के मूल में विरोध का सिंचन है। सब मिलाकर कहा जा सकता है कि कवि का अनुभूति पक्ष दुरूह स्थिति का है, और वह अपनी अनुभूति को संवेध बनाने के लिए ईमानदारी से प्रयत्नशील हैं, किन्तु वस्तु की स्वाभाविक दुर्बलता को कहाॅ ले जायेगा। इसमें आरोप अधिक सहज और सफल बना है, अध्यवसान अपेक्षाकृत कठिन विरोध ने चमत्कार की सृष्टि की है।

जहाँ अध्यवसान के लिए अध्यावसेय वस्तु–जगम्य होता है, प्रेषणीयता भी सफलता से हो जाती है –

मारो मारो स्त्रापिनी निरमत जल पेठी।

त्रिभुवन डसती गोरखनाथ दीठी।

---

1. गोरखबानी, पृ0 114

नारी को साधना में प्रतिरोध ही नहीं स्खलन की भूल मान कर गोरख चले है। यह उनके गृहीत जीवन की वस्तुस्थिति भी। पर नारी से यती साधक को बचाने के लिए उन्होंने बड़े सटीक शब्दों में उपदेश दिया है –

दिवसे बाघनि मन मोहे राति सरोवर स्तौषै।

जाणि बूझि रे मूरपि लोय़ा धरि धरि बाधिन पोबे।

<u>विरोधाभास :</u> विरोध–वैचित्य को आधार मान कर गोरख ने अनेक उक्तियाँ प्रस्तुत की हैं। अव्यक्त एवं जटिल अनुभूतियों को विरोधमूलक वाणियों में प्रस्तुत करने की परम्परा वैदिक काल से चली आ रही है। सम्भवतः अतीन्द्रिय अनुभूतियों के लिए इसके अतिरिक्त कोई चारा नहीं होता। यह दूसरी बात है कि अनुभूति की वास्तविक अतीन्द्रियता न होने पर भी कोई उसका दम भरे और उक्ति में नकल करे।

सिद्धों, नाथों और सन्तों– सभी में उलटवाँसियों का प्रचुर प्रयोग हुआ है। इनके मूल में वैचित्रय का आधार–अध्यवसान का और विरोध– दोनों का ही होता है। अध्यवसान प्रतीत की कोटि पर भी पहुँचा होता है और उपमान भूमिका का भी होता है। यह न्स्वभाविक ही है कि प्रतीक संस्पर्शी अध्यवसान में अधिक अस्पष्टता हो और जब उसमें विरोध–वैचित्रय का योग हो जाये तो अर्थ दुरूह हो जाये तथा चमत्कार का योग बढ़ जाये।

विरोध में वैचित्रय का उपयोग कहीं विभावना की, तो कहीं व्यतिरेक की, अथवा किसी अन्य अलंकार की सृष्टि करता हुआ भी पाया जाता है।

<u>अन्य अलंकार :</u> अन्य अलंकारों का अनायास प्रयोग भी यत्र–तत्र मिलता है। इसमें सामान्यतः सहज अप्रस्तुत –विधान की झलक भी अनेकतत्र मिलती है। उपमा दीपक, तुल्योगिता, व्यतिरेक, अप्रस्तुत प्रशंसा, पर्याथोक्ति, विनोक्ति जैसे अलंकारों के उदाहरण भी खोजे जा सकते हैं पर वास्तविक स्थिति यही है कि गोरख का ध्यान इन अलंकारों के विधान की ओर नहीं था। इन अलंकारों को दिखाने का तात्पर्य इतना ही हो

सकता है कि जागरूक न होते हुए भी अलंकार–विधान के बहुत– से पहलू गोरख की बानियों में झलक आये हैं, जिनमें अनेकतत्र सहजता भी है। नीचे की उक्तियाँ ऐसा ही अलंकार–चारूत्व लिये हुए हैं –

अवधू यो मन जात है याही ते जब जांणि।
मन मकड़ी का ताग ज्यूं उलटि अपूढां वाणि।।
चापि भरे वासन फूटे, बारे रहे यो छीजै।
बसत धणेरी थासण पोछा कहौ गुरु क्या कीजै।
दूधे धोया कोइला उजला न होइला।
कागा कंठे पहुप माल हंसला न भेइला।।
अनाजे सी रोटली, कागा ले जाइला।
पूंछौ म्हाता गुरुं न कहां देसि खइला।।
नदी तीरे विरषा, नारी संगे पुरषा, अलप जीवन की आसा।
गोड़ भये डगमग पेट भया ढीला,
सिर बगुला की अंषिया।

आधुनिक आलोचना में प्रतीक को अत्यधिक महत्ता प्राप्त है। नृतत्पशास्त्र एवं मनोविज्ञान के शोधों के फलस्वरूप सहित्य को सार्वभौम प्रतीक के रूप में समझने की प्रवृत्ति का तीव्रता से विकास हुआ। मिथकीय आलोचना तो साहित्य को प्रतीकात्मक या बिम्बात्मक शब्द के रूप में स्वीकार करके चलती है। मिथकीय आलोचना के युगीन सम्प्रदाय के अनुसार किसी भी रचना का काव्यात्मक मूल्य सामूहिक अचेतन से जन्मे सार्वभौम बिम्बों की अभिव्यक्ति में निहित होता है। युग की दृष्टि में बिम्ब और प्रतीक में कोई भेद नहीं है। युगीय आलोचना–पद्धति तो यह भी स्वीकार करती है कि काव्य के समग्र भाविक विधान में किसी एक आद्यबिम्ब अर्थात प्रतीक की सत्ता रहती है। प्रंबधात्मक रचनाओं में यह प्रतीक कथानक से लेकर उद्देश्य तक में परिव्याप्त होता है।

हिन्दी में गोरखनाथ ने जिस प्रकार काव्य–भाषा की एक विशिष्ट परम्परा का सूत्रपात किया, उसी प्रकार उन्होंने प्रतीकों की भी एक परम्परा को जन्म दिया। नाथों और सन्तों के प्रतीक–विधान के सन्दर्भ में यह प्रायः कहा जाता रहा है कि जीवन से ग्रहीत है। यह बात एक सीमा तक ही सही है, क्योंकि नाथों और सन्तों के अनेक प्रतीक ऐसे हैं जो शास्त्र–परम्परा से गृहीत हैं। उदाहरणार्थ सूर्य, चन्द्र, गगनमंडल आदि के प्रतीक के लिये जा सकते हैं। शास्त्र परम्परा के प्रतीकों का जन्मदाता लोक है। प्रतीकों का उदय मानवचित्त के ऐसे धरातल से होता है जो सार्वभौम है और जिसे विश्लेषणात्मक मनोविज्ञान की भाषा में सामूहिक अचेतन कहते हैं। शास्त्र परम्परा में प्रायः प्रयुक्त होकर ये प्रतीक रूप हो जाते है। महान कलाकार ऐसे परम्परागत प्रतीकों का पुनः सृजन करता है। 'गोरखबानी' में ऐसे पुनःसृजन के अनेकानेक उदाहरण विद्यमान हैं।

नाथों ने अपनी अनुभूतियों की अभिव्यक्ति के लिये नयी भाषा–शैली का निर्माण किया, जिसके लिए उन्हें नये प्रयोगों तथा प्रतीकों का आश्रय लेना पड़ा। प्राचीन परम्परा से चले आ रहे प्रतीकों के अतिरिक्त उन्होंने नवीन प्रतीकों को भी ग्रहण किया है। परम्परागत प्रतीक वेद और उपनिषदों के अतिरिक्त सिद्धों, शैवों और शाक्तों से लिये गये हैं। सिद्धों द्वारा अपनाये गये प्रतीक नाथों के लिए प्रेरणा का स्रोत बन गये। सिद्धों ने ब्रह्मरन्ध्र के लिए गगन का प्रयोग प्रायः किया है, उदाहरणार्थ –

गवणें उठि करअ अमिज पांण।[1]

भइ अहारिल गअणत पणिवा।[2]

जैसी उक्तियाँ ली जा सकती हैं।

प्रतीकों की दृष्टि से 'गोरखबानी' एक प्रकार का विपुल भण्डार माना गया है। प्रतीक साधर्म्य की व्यापकता तथा बिम्बों के कारण उभरकर आते हैं। साधर्म्य का

---

1. हिन्दी काव्यधारा, पृ0 132
2. वही, पृ0 166

आधार ही सूक्ष्म रूप ग्रहण करता है, जैसे– मन, पवन, साधन चितवृत्ति आदि का एक धर्म चंचलता है। इसके फलस्वरूप नाथों ने मन का प्रतीक चूहा, हाथी तथा ऊँट को बनाया मन के लए अन्य प्रतीकों में मछली, मृग, कूकर आदि लिये गये हैं।

पदों के विस्तार की अधिक संभावना के कारण 'गोरखबानी' में लम्बे रूपकों विरोधाभास पर आधारित चर्चा को अपनाया गया है, जिससे प्रतीक जटिल हो गये हैं। यही प्रवृत्ति पूर्ववर्ती साहित्य में संध्या और परवर्ती साहित्य में उलटवासियों के रूप में जानी जाती है। "संध्या भाषा के प्रयोग का यह उद्देश्य है कि किसी साम्प्रदायिक विचारधारा को बिना दीक्षा ग्रहण किये व्यक्ति से गुप्त रखा जाये। इस प्रकार विशेष रूप से किसी साधक या योगी को द्विविधा की स्थिति में ही रखा जाये जो उनके लिए प्रशिक्षण के लिए परमावश्यक ही हो जाता है। वास्तव में इसे दूसरे शब्दों में एक प्रकार की कोई प्रतीकात्मक शैली भी कह सकते हैं, जिसकी सहायता पीछे आने वाले नाथ–पंथी तथा सन्त कवियों तक ने लेना उचित समझा।" उदाहरणार्थ 'गोरखबानी' से यहाँ एक पद लिया जाता है –

नाथ बोले अमृतवाणी वरिषेगी कंबल भीजेगा पांणी।
गाड़ि पड़रवा बांधिलै षूंटा, चलै दमांमां बाजिले ऊँटा।
कउआ की ड़ाली पीपल वासे मूसा के सबद बिलहया नासै।
भले बटावा थाकी बाट, सोवै डूकरिया ठौरे षाट।
डूकिले कूकर भूकिल चार, काठे थणीं पुकारे ढोर।
ऊजड़ पेड़ा नगरी मझारी तलि गगरि ऊपर पनिहारी।
नगरी परि चूल्हा धूंधाई, पोषणहारा को रोरी खाइ।
कांमिनि जले अंगीठी तापै, विच बैसंदर बाहर कांपै।
एक जु रढिया रटती आई बहू बिवाई साधू जाइ।
गगरी को पांणी कुई आवै, उलटी चरचा गौरख गावै।

उलटी चर्चाओं में प्रतीकों का उद्देश्य केवल अभिप्रेत का संप्रेषण ही नहीं है, अपितु विरोधाभास के द्वारा पाठकों तथा श्रोताओं को चौंकाना भी है। कुछ अन्य चौंकाने वाले प्रतीक इस प्रकार है –

चोटी केरा नेत्र में गज्येन्द्र समाइला।
गावड़ी के मुष में बाघला विवाइला।।

चींटी की आंखों में गजेन्द्र का समाना तथा गाय के मुख्य में बाघिन के बिया जाने का वर्णन विरोधमूलक है। प्रतीकार्थ होगा सूक्ष्म आध्यात्मिक स्वरूप में स्थूल भौतिक रूप का समाना।

हठयोगी–साधना का चरम लक्ष्य कुंडलिनी का ब्रह्मारन्ध्र में प्रवेश है। इसीलिए विवेच्य कृति में ब्रह्मरंध्र के लिए विविध प्रतीकों का प्रचुर प्रयोग हुआ है। ब्रह्मारंद्र के प्रख्यात प्रतीकों में ब्रह्मांड, अँधा कुँआ, उत्तरखंड, अधरा, तातै, लोहा, दसवॉ, द्वार, गुफा आदि उल्लेखनीय हैं।

नाथपंथियों का विश्वास था कि पिंड में ही ब्रह्माण्ड है। उनके लिए कुंडलिनी के ब्रह्मारंध्र में प्रवेश करने का अर्थ है – सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड से साक्षत्कार। एक उदहारण द्रष्टव्य है –

अदेशि देषिवा देवि विचारिया अदिसिस्टि राधिवा धीमा।
पाताल की गंगा ब्रह्माण्ड चड़ाइवा, तहाँ मिल जल पीया।।[1]

इसका अर्थ यह है कि न देखे हुए परब्रह्म को देखना चाहिए। देखकर उस पर विचार करना चाहिए। जो आँखों से देखा नहीं जा सकता उसे चित्त में रखना चाहिए। पाताल की गंगा को ब्रह्माण्ड में प्रेश्रित करना चाहिए वहीं पहुँचकर विमल मन निर्मल रस पीता है।

---

1. गोरखबानी, पृ0 2

इसमें देखना, विचार करना, रखना, चढ़ना और पीना मनुष्य के आदिमतम व्यापारों की व्यंजक क्रियाएँ हैं। उनके द्वारा मन तथा अदृष्ट सत्ता के तादात्म्य की प्रक्रिया तो बिंबित हुई ही है, साथ ही पाताल गंगा, ब्रह्माण्ड तथा विमल जल के बिम्ब भी गतिशील हो उठे हैं। यह रूढ़ प्रतीक होते हुए भी नवीनता लिये हुए हैं। पाताल गगा सिद्ध साहित्य में भी साहित्य में भी कुंडलिनी के या प्रज्ञा के प्रतीक रूप में प्रयुक्त नहीं है। गंगा सिद्धों में इड़ा नाड़ी की प्रतीक थी, पर यही पर उसका प्रयोग योगिनी शक्ति या कुंडलिनी के लिए हुआ है। यहाँ पाताल की गंगाँ रूप में इसका प्रयोग इसे मणिपुर चक्र की कुंडलिनी का अर्थ देता है, जिसको साधक सहस्रार में पहुँचने के लिए प्रेरित करता है 'मिल जल पीया' प्रयोग द्वारा बिम्ब काव्यात्मक हो गया है। इसके साथ पाताल और ब्रहमांण्ड के मिलने का विराट बिम्ब भी प्रमाता के चित्त में उद्दीप्त हो उठता है। यहाँ ब्रहमाण्ड गगन समकक्ष है और गगन शिव के पास रूप में प्रसिद्ध रहा है। पंक्तियों में 'आकाश पाताल एक करना' मुहावरे का ध्वनन भी है।

गगन मंडल अँधा कूवा तहां अमृत का वास।

सगुरा होइ सुमरि भरि पीये निगुरा जाइ पियासा।

ब्रह्मरंध्र के लिए 'धुआँ कुँआ' प्रतीक नामों को विशेष प्रिय रहा है। इस कुँए में अमृत का वास है। आकश–मंडल (शून्य तथा ब्रह्मरंध्र) में एक औंधे मुँह का कुँआ है जिसमें अमृत का वास है। जिसने अच्छे गुरु की शरण ली है वही उससे भर–भर कर अमृत पी सकता है, कयोंकि उसे पीने का उपाय गुरु ही बता सकता है। जिसने अच्छे गुरु को धारण नहीं किया वह उस अमृत का पान नहीं कर सकता, प्यासा ही रह जाता है।

इसमें ऊँधे कुँए के अतिरिक्त गगन–मंडल तथा अमृत भी रूढ़ प्रतीक हैं। गगन–मंडल शून्य शिखर है। इस गगन–मंडल को औधा कुँआ बताना दोनों प्रतीकों को कुछ नया रूप देना है। सिद्ध साहित्य में औंधे कुएँ का वर्णन नहीं मिलता। वहाँ शून्य

विशेष व्यापक बन गया है। औंधे कुंए में ही अमृत का वास है– यहाँ विरोध का चमत्कार है और पनघट का दृश्य उपस्थित किया गया है।

'गोरखबानी' में अनेकत्र उत्तराखंड भी ब्रह्मरंध्र के प्रतीक रूप में व्यवहृत है – उदाहरणार्थ –

उत्तरषंड जाइवा सुनिफल खइला ब्रह्मअगनि पहरिया चीरं।
नीझर झरणें अमुत पीया यूँ मन हूदा थींर।[1]

नाथ–योगियों और प्रारम्भिक सन्तों की भाषा और शैली में पर्याय समानता है। कबीरदास ने मुख्यतः :साखी' और 'शब्द' लिखा है। साखियों की रचना का प्रारम्भ बताते हुए परशुराम चतुर्वेदी ने कहा है – "हो सकता है कि इनकी रचना की परम्परा गुरु गोरखनाथ आदि जोगियों के आविर्भाव काल में आरम्भ हुई हो, क्योंकि खोज में कभी–कभी 'जोगेश्वरी साखी' जैसे पद्य–संगह भी मिल जाते हैं। जहाँ तक शब्द का प्रश्न है, 'गोरखबानी' में भी श्ताब्दियाँ हैं। इसी प्रकार 'चौंतीसा' और 'पद' भी गोरखवानी में हैं। कबीर द्वारा प्रयुक्त अन्य काव्य रूपों की भी लोक–प्रचलित परम्परा ही होगी। इसी लोक–परम्परा से नाथों ने भी अपने 'काव्यरूप' चुने होंगे। सन्तों ने भी नाथ–यागियों की भाँति मुक्तक शैली का प्रयोग किया है। दोनों में चोट करने वाली शब्दावली प्रयुक्त है। उलट वांसियों की रचना नाथयोगियों ने भी की है। कबीर की कोई उलटबांसियाँ ठीक उसी प्रकार की हैं जिस प्रकार की गोरखनाथ की हैं। प्रतीक शैली का प्रयोग नाथों और सन्तों में समान रूप से हुआ है। अनेक स्थानों पर गोरखनाथ और कबीर के कथनों में अद्‌भुत साम्य है –

गुरु गोरखनाथ – हिन्दू आवै राम कौ मुसलमान खुदाई।
जोगी आप अलष को, तहाँ राम अहै न वुदाइ।।

---

1. गोरखबानी, पृ0 24

कबीर साहब – हिन्दू मूये राम कहि, मुसलमान खुदाई।
कहै कबीर सौ जीवता, दुई मैं कढ़ न जाइ।।

कबीर साहब – मन लागा उनमन सौं गगन पहुंचा जाइ।
देख्या चन्द विहूंणा चांदिणा, तहॉ अखल निरंजन राइ।।[1]

कबीरदास द्वारा प्रयुक्त काव्य–प्रकारों में 'थंती' और 'बार' भी है। ये दोनों ही 'गोरखबानी' में भी पाये जाते हैं। 'गोरखबानी' में पन्द्रह तिथि के अन्तर्गत अमावस से लेकर 'पून्थ' (पूनो) तक की सोलह तिथियों का क्रम वही हैं जो गोरखबानी में है। कबीर के नाम से दी गयी 'थिंती' में तिथियों का क्रम वही है जो गोरखवानी में है। 'बार' नामक रचना में 'आदित (आदित्य) वार' से लेकर 'शनिवार' तक के नाम क्रमशः लिये गये हैं। गोरखनाथ ने काया के भीतर ही सातों वारों के साथ ही नवग्रहों की स्थिति भी बतायी है। तात्पर्य यह है कि काव्य–प्रकार, भाषा और शैली की दृष्टि से नाथ–मत (विशेषतः गोरखनाथ द्वारा प्रयुक्त काव्य–प्रकार एवं शैली) और सन्त–मत में पर्याप्त समता है। परवर्ती सन्तों ने भी मुख्यतः साखी–सबदी ही लिखा है। कुछ ने प्रबन्ध कावरूप भी लिखे हैं। इसके अतिरिक्त परवर्ती सन्तों में वह चोट करने वाली भाषा भी नहीं है जो प्रारम्भिक सन्तों में है। नाथ–मत और सन्त–मत में भाषा की दृष्टि से एक अन्तर यह भी है कि नाथ–मत के सिद्धान्त–ग्रन्थ संस्कृत में लिखे गये हैं, जबकि सन्तों की रचनाएँ मात्र हिन्दी भाषा (भाषा) में ही हैं। संस्कृत को कूप जल और भाषा को बहता नीर बताकर जीवन की गतिशील प्रवृत्तियों को महत्व देने का अपार साहस प्रारम्भिक सन्तों में दिखायी देता है। ऊपर के समस्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता कि नाथ–मत और सन्त–मत एक ही सांस्कृतिक प्रवाह की परवर्ती कड़ियाँ हैं अवश्य, किन्तु दोनों में कुछ भिन्नता भी है। दोनों दो अलग–अलग युगों में जीवन की गतिशील चेतना के साक्षी रहे

---

1. गोरखबानी परम्परा और काव्यत्व, पृ0 107–121

हैं, किन्तु नाथ–योगी जहाँ योग और ज्ञान से ही जीवन के चरम उद्देश्य की प्राप्ति सम्भव मानता रहा है, वहाँ संत 'भक्ति' को सर्वाधिक महत्वपूर्ण मान कर ज्ञान और योग को साधना रूप में ही देखते रहे हैं।

'गोरखबानी' की परम्परा केवल संतों तक सीमित नहीं रही। अनुभूति की सहजता और अभिव्यक्ति का खरापन गोरखी परम्परा का वैशिष्ट्य रहा है। हिन्दी के आधुनिक कवियों की रचनाओं में उक्त वैशिष्ट्य को एक सीमा तक लक्षित किया जा सकता है। 'गोरखबानी' शुरूआत है इस रूप में यह परम्परा आज भी जीवित है। भारतेन्दु की जिन्दादिली, निराला का विद्रोह, मुक्तिबोध की संघर्ष प्रियता, धूमिल की भाषा की खनक, सगड़ी के भाषिक प्रयोग में 'गोरखबानी' की उस परम्परा की झलक देखी जा सकती है जो प्रमुखतः संत कावरूप के माध्यम से आधुनिक काव्य में संचारित हुई।[1]

नाथों की भाषा का संतों पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ा। नाथों और संतों की भाषा और छंदों के ऊपर सर्वाधिक गंभीर आरोप लगाये गये हैं। नाथों और संतों की भाषा में किसी साहित्यिक भाषा विशेष का परिनिष्ठित रूप न पाकर पं0 रामचन्द्र शुक्ल ने अपने इतिहास में उनकी भाषा को 'सधुक्कडी भाषा' कह दिया था। उनके अनुसार यह रमते साधुओं की भाषा थी किसी भी कवि की, प्रवृति विशेष के काव्य की भाषा का विचार उसके भाषागत वैशिष्ट्य को ध्यान में रखकर दिया जाता है। नाथों की भाषा के संबंध में अब विद्वान एक निष्कर्ष पर पहुँच गये हैं और वह यह है कि (1) यद्यपि उनकी रचना की भाषा पर्याप्त बदल गई है तथापि उसमें अभी भी अपभ्रंश, परवर्ती अपभ्रंश और 23–24वीं शताब्दी की सामान्य प्रचलित भाषा के अवशेष सुरक्षित हैं। (2) मुख्य रूप से उनकी राजस्थानी, पंजाबी आदि का प्रभाव भी मिलता है। (3) मुख्य रूप से उनकी भाषा वह पुरानी हिन्दुस्तानी है जिसके ऊपर राजस्थानी का प्रभाव पड़ा है। इस प्रकार के निर्णय में डा0 पीताम्बरदन्त बड़थ्वाल तथा कल्याणी मल्लिक सहमत हैं।' डा0 राजकुमार

1. डॉ0 मनीषा शर्मा, गोरखबानी– परम्परा और काव्यत्व, पृ0 143, 144

वर्मा ने भी अपने 'आलोचनात्मक इतिहास' में इस सम्बन्ध में पर्याप्त विचार किया है। इस प्रकार के विचारों के पीछे एक कारण यह भी है कि नाथपंथ का कार्यक्षेत्र राजस्थान, पंजाब, गुजरात, मारवाड आदि प्रदेश रहे हैं। यद्यपि उनकी भाषा में कुछ पूर्वी प्रयोग भी मिलते हैं तथा उनके संप्रदाय का प्रसार भी इस क्षेत्र में हुआ है किन्तु इस प्रकार के प्रयोग हिन्दी के अधिकांश कवियों में मिलते हैं।

हिन्दी के संत कवि सुदूर एवं विभिन्न क्षेत्रों के निवासी थे जहाँ की बोलियाँ अथवा भाषाएँ भिन्न–भिन्न थीं। संत लोग अधिकांशतः अशिक्षित अथवा अर्द्धशिक्षित थे। संत लोग भाव अथवा साधना को अधिक महत्व देते थे। भ्रमणशील होने के कारण विभिन्न क्षेत्रों, प्रदेशों की भाषाओं, बोलियों का उनके ऊपर प्रभाव पड़ता था। विभिन्न प्रदेशों के अनुयायियों ने अपने उपदेशक की रचनाओं को ज्ञान अथवा अज्ञानवश अपनी भाषा अथवा बोली में पूर्णतः अथवा अंशतः परिवर्तित कर लिया है। इन सब कारणों से उनकी भाषा का कोई स्थिर और व्यवस्थित रूप नहीं रह सका। इस वैविध्य और लोकजीवन के अधिक निकटता के कारण संतों की भाषा का महत्व भाषवैज्ञानिक दृष्टि से और भी बढ़ जाता है। ये ही बातें नाथों की भाषा के संबंध में कही जा सकती हैं। अनेक संत कवियों ने विभिन्न भाषओं में भी रचनाएँ की हैं। ऐसे संत कवियों में दादू और सुंदरदास (छोटे) का नाम विशेष रूप से लिया जा सकता है। उन लोगों ने गुजराती, मारवाणी, पंजाबी आदि भाषाओं में भी अलग से रचनाएँ की थीं। इस दृष्टि से इन रचनाओं का भी विशेष महत्व है। नाथों की जो हिन्दी बानियाँ इस समय उपलब्ध हैं, उनके साथ इस प्रकार की इतर भाषओं में रचित कोई रचना प्रकाशित नहीं है किन्तु इतना पूर्णतया सत्य है कि विभिन्न नाथसिद्धों के नाम से समग्र भारत की अधिकांश भाषाओं में कुछ न कुछ रचनाएँ अवश्य मिल जायेंगी। उनकी प्रामाणिकता का पक्ष दूसरा है। पं0 परशुराम चतुर्वेदी ने विभिन्न भाषा क्षेत्रों के अनुसार विचार कर कबीर, रैदास, भीक्षा, शिवनारायण, परिया आदि को भोजपुरी क्षेत्र से, मलूक जनजीवन, दूलन, भीषम,

पलटू आदि को अवधि क्षेत्र से, गुरुनानक, अंगद आदि गुरु बुल्लेशाह फरीद, गरीबदास को पंजाबी क्षेत्र से, दादू, रज्जव, सुंदरदास, आदि को ब्रजभाषा और खड़ी बोली के क्षेत्र से सम्बद्ध माना है। उनका निष्कर्ष यह है कि 'सन्तों' की भाषा कम से कम शब्दभंडार एवं वर्णन शैली के अनुसार मूलतः एक है और क्रियापद संयोजक व कारक चिन्ह संबंध के जो कुछ अंतर दीख पड़ते हैं, वे प्रस्तुत उतने स्पष्ट एवं निश्चित नहीं हैं जिनके आधार पर उसे भिन्न–भिन्न वर्गों में विभाजित कर सकें।

नाथों और संतों की भाषा में अन्तर भी है। पहली बात तो यह है कि संतों की भाषा नाथों की भाषा की अपेक्षा भावों और विचारों को व्यक्त करने में अधिक समर्थ है। भक्ति और प्रेम से सूक्ष्म से सूक्ष्म भावों को व्यक्त करने में समर्थ हैं। दूसरे, इस प्रकार की अभिव्यक्ति के लिये संतों ने विभिन्न विदेशी स्वदेशी भाषाओं से शब्द तो लिये ही हैं साथ ही जनप्रचलित भाषा के शब्दों, प्रतीकों, मुहावरों, कहावतों, अभिव्यक्ति पद्धतियों को भी ग्रहण किया। नाथों की रचनाओं, विशेषकर पूर्ववर्ती गोरखनाथ आदि की रचनाओं की भाषा में लोकभाषा की सरसता उपलब्ध नहीं है। तीसरे, संतों का विभिन्न प्रदेशों से यद्यपि संबंध अवश्य था किन्तु उनकी भाषा में अन्य भाषाओं का मिश्रण उस मात्रा में नहीं है, और न वह मिश्रण इतना अत्यर्वस्थित है कि उससे किसी भाषा विशेष की मुख्यतः मालूम ही न हो। संतों ने, विशेषकर दादू, सुन्दरराम इत्यादि ने भिन्न–भिन्न भाषाओं में रचना की है और वे नागरी लिपि में उपलब्ध भी हैं। यद्यपि उनका संबंध भिन्न–भिन्न भाषा के प्रदेशों से था, उनकी मातृभाषा भी हिन्दी से भिन्न थी किन्तु उन लोगों ने हिन्दी की विभिन्न बोलियों में रचनाएँ की हैं। उदाहरण के लिये दादू की मातृभाषा गुजराती मानी जाती है किन्तु उन्होंने केवल कुछ पदों को छोड़ कर अपनी अधिकांश रचना हिन्दी में की है। नामदेव मराठे थे किन्तु उन्होंने भी हिन्दी में रचनाएँ की हैं। ऐसी स्थिति में यह अनुमान किया जा सकता है कि संतों ने जिस प्रकार की व्याकरण की दृष्टि से असंस्कृत भाषा का प्रयोग किया है, वह उस समय की, लगभग 14–15वीं शताब्दी से लेकर 18–19वीं

ईस्वीं शताब्दी तक जनसामान्य के नित्यप्रति के व्यवहारों, भावों की भाषा थी। दूसरा अनुमान यह किया जा सकता है कि इन संतों की रचनाओं के जो विभिन्न रूप और पाठभेद मिलते हैं, उसमें भी उनके अनुयायियों का विशेष हाथ है। कबीर की एक ही रचना के पंजाबी, राजस्थानी, हिन्दुस्तानी आदि से प्रभावित रूप मिल सकते हैं। अधिक संभावना इस बात की है कि मूल रचना उस समय की जनसामान्य की किसी सर्वाधिक प्रचलित भाषारूप में रही होगी किन्तु भिन्न भिन्न प्रदेशों के श्रद्धालु जनों के प्रसाद से उसके विभिन्न रूप मिलने लगे। यह सामान्य भाषा तत्कालीन साहित्यिक एवं परिनिष्ठित भाषा ब्रजभाषा और अवधि से कुछ भिन्न रही होगी। स्पष्ट ही वह साहित्यिक भाषा नही थी किन्तु भावों को व्यक्त करने की शक्ति उसमें कम न थी और इसका प्रभाव कबीर की भाषा से मिल जाता है। कबीरादि संतों को भाषा के भावों को व्यक्त करने की समर्थ्य से ही प्रयोजन था भाषा के संस्कार और सौंदर्य से नहीं। यद्यपि रीतिकाल के आसपास के कवियों में इस प्रकार की प्रवृत्ति नहीं देखी जाती । वे भाषा के प्रति अधिक सजग हैं।

रस, छंद, अलंकार, भाषा आदि के प्रति इस प्रकार की प्रवृति के होने के भी कई कारण हो सकते हैं। सुन्दरदास जैसे कुछ कवियों को छोड़कर इनके प्रति कोई संतकवि सजग नहीं दिखाई पड़ता। मुख्य बात यह है कि संतों और नाथों की रचना की कोटि ऐसे शुद्ध काव्य की कोटि से अलग है जिसका लक्ष्य ही काव्य रचना है। वह किस कोटि की है, इसके संबंध में संतों के ही कुछ विचार ध्यान में रखे जा सकते हैं। कबीरदास ने कवि को अहंवादियों की कोटि में रखा है। पंडित, गुनी, सूर, कवि, द्वाता– ये सभी अपने को ही बड़ा कहते हैं। दूसरे, कवि लोग कविता कर के अमरत्व नहीं प्राप्त कर सकते। बिना राम के यह अमरत्व उपलब्ध नहीं हो सकता। प्रेम के लिये अहंकारत्याग कितना अधिक आवश्यक है, यह प्रेमवादियों और रहस्यवादियों की रचनाओं को पढ़ने से ही स्पष्ट होता है। सुन्दरदास की दृष्टि में थोड़ा सा अंतर है। उनके अनुसार जब तक काव्य जोड़ना न आता हो तब तक रचना न करनी चाहिए। रचना ऐसी होनी चाहिए

जिसमें तुक, छंद और अनूप अर्थ की उपलब्धि होती हो। ऐसी वाणी की रचना नहीं करनी चाहिए जिसमें तुकभंग, छंदभंग और अर्थसाहित्य हो। कविता के लक्षणों में वे उसका नख–शिख शुद्ध होना आवश्यक मानते हैं। उसमें अक्षर कम या अधिक न होने चाहिए। भाषा में घट–बढ़ नहीं होना चाहिए। उसमें अनामिल तुक और अर्थहीनता न होनी चाहिए। ऐसी कविता का जीवन (प्राण, आत्मा) 'हरिजस' है। इसके बिना कविता मृत मानी गई है। पहले संकेत किया जा चुका हैं कि पूर्ण रहस्यवादी कविता वह है जिसमें काव्य के नैसर्गिक अंग स्थतः रहस्यवादी प्रवृत्तियों के साथ समन्वित होकर आ जाते हैं। संतों की रचनाओं में रहस्यवादी प्रवृतियाँ हैं। उसमें शैली संबंधी पूर्णता–प्रतीक और पौराणिक शैली भी मिलती है, किन्तु काव्य पक्ष, यदि शुद्ध काव्य की परिभाषा की दृष्टि से विचार करें, दुर्बल दिखाई पड़ता है। सुन्दरदास का काव्य रहस्यवादी तो है ही साथ ही उसमें काव्य की व्यवस्था, नियमबद्धता सरसता और सरलता भी है। ऐसी पूर्णता अन्य संतकवियों में नही दिखाई पड़ती। भाषा की दृष्टि से भी सुंदरदास अतुलनीय हैं किन्तु तीव्र भावना का जो वेग कबीर जैसे कवियों की रचनाओं में दिखाई पड़ता है, वह उतनी मात्रा में विभिन्न उत्तर मध्ययुगीन संत कवियो में, सुंदरदास में भी, नहीं दिखाई पड़ती । संतों का अभिव्यक्ति पक्ष प्रत्येक दृष्टि से, नाथों की तुलना में अपेक्षाकृत अधिक सुदृढ़, व्यवस्थित और सरस है। युग के आग्रह से संतों की काव्य संबंधी दृष्टि में परिवर्तन तो अवश्य दिखाई पड़ता है किन्तु रहस्यानुभूति, भक्ति, प्रेम को, भगवान के लक्ष्य को उन्होंने कभी नहीं छोड़ा। हमारी दृष्टि में संपूर्ण नाथसाहित्य और संत साहित्य की एकमात्र कसौटी है आध्यात्मिक साक्षात्कार। नाथों और संतों की रचनाओं में इस आध्यत्मिक साक्षात्कार के विविध रूप व्यक्त हुए हैं और भाषा उन रूपों में "गोरवाबानी" की भाषा की दृष्टि से गहरा प्रभाव है।[1]

---

1. डॉ० नागेन्द्रनाथ उपाध्याय, नाथ और संत साहित्य, पृ० 607–611

अध्याय – 6

गोरखबानी का संत–काव्य पर प्रभाव– साधना पक्ष

इस अध्याय में "गोरखबानी" के माध्यम से संतों की रचनाओं में नाथों के साधना–पक्ष के प्रभाव को विवृत करने का प्रयाय किया जा रहा है। नाथपंथी योगियों की साधना शैव और वैष्णव दोनों परम्पराओं से प्रभावित रही है। वैष्णवों और शैवों की साधना पद्धतियों पर तांत्रिक साधना का प्रभाव पड़ा है। नाथों की संस्कृत और हिन्दी रचनाओं में मिलने वाले योग साधना पर भी उनका पर्याप्त प्रभाव है। पांचरात्र साहित्य अंशतः वैदिक है और अंशतः तांत्रिका इसी तंत्र प्रभावित पांचरात्र वैष्णव साहित्य में प्रकाशित वैष्णव साधना का विकास और विवेचन आगे चलकर रामानुजी वैष्णव मत तथा अन्य वैष्णव मतों में हुआ। इस वैष्णव साहित्य में उपलब्ध योग का स्वरूप परम्परापुष्ट है। वैष्णव भक्ति साहित्य और मत में भी योग साधना को साधनांग के रूप में स्वीकार किया गया है किन्तु केवल इसी योग को ग्राह्य और सार्थक बताया गया है जो भक्ति की उत्पत्ति और प्राप्ति में सहायक हो। दूसरी बात यह है कि जिस योग साधना का परिचय मिलता है व्यायाम, नियम, आसन, प्राणायाम, कुंडलिनी–साधना, षट्चक्रवेघ, नाड़ीसाधन आदि से समन्वित है। तीसरी बात यह है कि इस योग साधना का भक्ति से पृथक कोई महत्व नहीं है। चौथे, किसी न किसी रूप में योग साधना से चित्तसंयम कर ध्यान की सहायता से जीवात्मा–परमात्मा की एकात्मोपलब्धि को ही ये लोग योग साधना कहते हैं। कुछ ग्रंथ इसमें 'समर्पण' तत्व का भी समन्वय करते हैं।

संतों की योग साधना के प्रसंग में वैष्णव साहित्य में प्राप्त योग साधना का परिचय देना आवश्यक इसलिये समझा गया कि अभी तक संतों के योग साधना को केवल नाथपंथियों की ही देन समझा जाता रहा है। अभी तक संत साहित्य पर विद्वानों

ने जो कुछ भी विचार किया है उनमें योग साधना और भक्ति का स्थान–निरूपण और स्रोत–निरूपण मुख्य हैं। संतों को योग साधना शैव परंपरा से मिली थी या वैष्णव परंपरा से, इसका निश्चय यहाँ अपेक्षित हैं। संतों की भक्ति और योग का सम्बन्ध निरूपण और स्वरूपनिर्माण भी करना आवश्यक है। स्रोत, संबंध और स्वरूप में से प्रथम दो का विवेचन पं0 रामचन्द्र शुक्ल ने करते हुए बतलाया था कि गोरखनाथ के नाथ–पंथ का मूल बौद्धों की बज्रयान शाखा थी। बौद्धों की इस शाखा की विशेषताएँ थीं– अन्तस्साधना पर जोर और पंडितों को फटकार, दक्षिणमार्ग छोड़कर वाममार्गग्रहण, वारूणीप्रेरित, अन्तर्मुख साधना, साधना में मद्य तथा स्त्रियों का विशेषतः डोमनी रजकी आदि का अबोध सेवन, घर के भीतर विहार महासुखवाद और युगनद्ध। उनके अनुसार यद्यपि नाथपंथ का मूल यही वज्रयान शाखा थी किन्तु गोरखनाथ की शाखा योगियों की शाखा और उसने वज्रयानियों के विधि–विधानों से अपने को अलग रखा। गोरख ने हठयोग का प्रवर्तन किया। योगियों की इस शाखा की विशेषताएँ थीं– रसायन सिद्धि, ईश्वरवाद, हिन्दू–मुसलमानों का सामान्य साधनामार्ग, ईश्वरोपासना के बाह्य विधानों के प्रति उपेक्षा, घर के भीतर की ईश्वर को प्राप्त करने पर जोर, वेदशास्त्र के अध्ययन की व्यर्थता और विद्वानों के प्रति अश्रृद्धा, तीर्थाटन आदि की निष्फलता, अन्तस्साधना, परमात्मा की अनिर्वचनीयता, जाँति–पाँति का खंडन, सदगुरु की महत्ता, आत्मनिग्रह, श्वासनिरोध, भीतरी चक्रों, नाड़ियों का वर्णन आदि। इस प्रकार नाथपंथियों ने वज्रयानियों की परम्परा अपने ढंग पर जारी रखी। शुक्ल जी के मतानुसार, आगे चलकर भक्तिकाल में निर्गुण संत सम्प्रदाय ... वेदान्त के ज्ञानवाद, सूफियों के प्रेमवाद तथा वैष्णवों के अहिंसावाद और प्रापप्तिवाद को मिलाकर, सिद्धों और योगियों द्वारा बनायें हुए इस रास्ते पर चल पड़ा। हृदयपक्षशून्य सामान्य अन्तस्साधना का मार्ग नाथपंथी निकाल चुके थे। उसमें प्रेमतत्व का अभाव था। इस प्रकार 'कबीर ने भारतीय ब्रह्मवाद के साथ सूफियों के भावात्मक रहस्यवाद, हठयोगियों के साधनात्मक रहस्यवाद और वैष्णवों के अहिंसावाद तथा प्रापत्तिवाद का मेल करके अपना पंथ खड़ा

किया।' उन्होंने हठयोगियों के साधनात्मक रहस्यवाद के कुछ सांकेतिक शब्दों– चंद, सूर, नाद, बिंदु, अमृतम, औधा कुआँ– को लेकर अद्‌भुत रूपक बांधे हैं। परम्परा का विचार करते हुए उनका स्पष्ट अभिमत है कि 'अहिंसा और प्रापप्ति के अतिरिक्त वैष्णत्व का कोई अंश उसमें (संत साहित्य में) नहीं है। उसके 'सुरति' और 'निरति' शब्द बौद्ध सिद्धों के हैं। सुरति और निरति शब्द योगियों की वाणियों से आये हैं, वैष्णवों से उनका कोई सम्बन्ध नहीं है।' इससे स्पष्ट है कि शुक्ल जी संतों के योग साधना को नाथों की परम्परा में मानते हैं। यह नाथों की योग साधना भी वज्रयानियों के योग साधना की परम्परा से आयी थी यद्यपि नाथों ने उसमें कुछ परिवर्तन कर लिया था। शुक्ल जी यद्यपि यह मानते है कि रामानंद की जातिवर्ण संबंधी उदारता नाथपंथियों से प्रेरित नहीं थी, अपितु वैष्णव भक्ति के अनुसार भी तथापि कबीर के संबंध में विचार करते समय वे इस प्रवृत्ति को मुसलमानों या योगियों की देन मानते हैं। रामानंद कबीर के गुरु थे। रामानंद ने योगसाधना नहीं की थी और न उसे किसी रूप में स्वीकार ही किया था। योगचिंतामणि, रामरक्षा आदि ग्रंथ भी उनके नहीं हैं। तुलसी के संबंध में विचार करते समय उन्होंने जो एक अति महत्वपूर्ण बात कही है, वह यह है कि तुलसी की भक्ति को धर्म और ज्ञान दोनों की रसानुभूति कह सकते हैं। 'योग का भी उसमें समन्वय है, पर उतने ही का जितना ध्यान के लिये चित्त को एकाग्र करने के लिये आवश्यक है। पं0 रामचन्द्र शुक्ल के इन विचारों से यह स्पष्ट हो जाता है कि संतों को योग नाथपंथियों से मिला तथा उनके गुरु रामानंद योग के न तो साधक थे न उपदेशक। संतों के योग का स्रोत बौद्ध सिद्धों और नाथसिद्धों की साधना से प्रवाहित होता आ रहा था।

शुक्ल जी के बाद विचारकों ने कुछ भिन्न विचार व्यक्त किये। डा0 पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल ने कबीर का जातिगत संबंध भी किसी न किसी रूप में नाथपंथियों से माना। डा0 पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल के 'हिन्दी कविता में योग प्रवाह' निबंध के प्रकाशित हो जाने पर पं0 अयोध्यासिंह उपाध्याय को यह संबंधस्थापन

अतिसरल अनुभूत हुआ क्योंकि 12वीं से 15वीं शताब्दी तक के व्यवधान को पूरा करने के लिये नाथपंथियों की रचनाओं का एक सामान्य परिचय उनके सामने प्रस्तुत था। उन सभी बातों को ध्यान में रखकर डा0 बड़थ्वाल ने गोरखबानी की भूमिका में लिखा था – नाथपंथियों की बानियाँ हमारे साहित्यिक और सांस्कृतिक विकास की लड़ी में एक महत्वपूर्ण कड़ी है। इस प्रकार ड0 बड़थ्वाल ने बौद्ध सिद्धों से लेकर कबीर तक साधना की एक ही परम्परा का दर्शन किया। इस बात को और भी स्पष्ट करने के उद्देश्य से उन्होंने संतों के पारिभाषिक शब्दों की परंपरा की खोज कर उनका वर्गविभाजन किया। इन वर्गों में से एक वर्ग ऐसा है जिसमें 'शून्य', 'विज्ञान', 'निर्वाण' जैसे शब्द गृहीत हैं और बौद्ध धारा की ओर संकेत करते हैं। इस धारा के शब्दों के अर्थ में बहुत परिवर्तन हो गया है। इस प्रकार के शब्दों के प्रयोग और उनके अर्थ में परिवर्तन का मुख्य कारण नाथपंथियों की योग पद्धति है। अपनी इस स्थापना को वे और अधिक स्पष्ट और सुनिश्चित रूप देते हुए कहते हैं 'गोरखनाथ के आसनों का प्रसंग यदि छोड़ दिया जाय तो उनमें तथा निर्गुण संप्रदाय के संतों में एक आश्चर्यजनक समानता दिखाई पड़ेगी। केवल शुक्ल कला ही नहीं अपितु शब्दावली भी दोनों की एक समान है। सुरति, निरति, उन्मन आदि शब्दों को गोरखनाथ एवम् अन्य संतों ने अपनी हिंदी रचनाओं के अन्तर्गत एक ही अर्थ में प्रयुक्त किया है। यहाँ तक के विचारों में पं0 रामचंद्र शुक्ल और डा0 बड़थ्वाल में समानता दिखाई पड़ती है। भिन्नता यह है कि डा0 बड़थ्वाल ने राद्यवानंद और रामानंद दोनों को योग साधना का साधक और उपदेशक माना है। राघवानन्द रामानंद के गुरु थे तथा जनश्रुति से इतना ज्ञात है कि वे रामानुजी संप्रदाय के महात्मा थे और योगक्रिया में पारंगत थे। उन्होंने अनुमान किया है कि जिस समय दक्षिण से आकर श्री यामुनाचार्य और रामानुजाचार्य की वैष्णव भक्ति का उत्तर में प्रचार हुआ उस समय वहाँ योग संप्रदाय के बहुत से लोग आ गये। परंतु साथ ही इन लोगों ने पुराने मार्ग की बातों को जो उनके अस्तित्व के अभिन्नांश हो गये थे, त्यागा नहीं। उन्हें नई

परिस्थितियों के साथ समन्वित कर लिया। इसीलिये रामानंद, कबीर, रैदास आदि उनके उत्तराधिकारियों में योग और भक्ति का पूर्ण समन्वय मिलता है। यद्यपि डा0 बड़थ्वाल ने इतना स्वीकार कर लिया है कि राघवानंद की साधना में योग साधना तत्व था तथापि वे उसे केवल तत्कालीन परिस्थिति का प्रसाद मानते हैं। अपनी स्थापना को पुष्ट रूप में उपस्थित करते हुए उन्होंने बताया कि 'राद्यवानंद बाहर से रामानुज संप्रदाय में होते हुए भी वस्तुतः इन्हीं योगी–नामों के उत्तराधिकारी हैं और उनसे पाई हुई सामग्री को उन्होंने रामानंद को दिया।

वस्तुतः पं0 रामचन्द्र शुक्ल और डा0 बड़थ्वाल प्रायः समयकालीन आलोचक थे उनके बाद के आलोचकों में से प्रायः सभी के योग का मूलाधार नाथों का योग माना है। डा0 हजारी प्रसाद द्विवेदी ने निर्गुणवादी संतों की वाणियों की बाहरी रूपरेखा का बौद्ध धर्म के अंतिम सिद्धों और नाथपंथी योगियों से सीधा सम्बन्ध माना है। संतों ने अपने इन पूर्ववर्तियों के शब्दों और पदों में यत्र–तत्र परिवर्तन भी किया था। द्विवेदी जी ने माना है कि कबीर ने एक साथ तीन बड़ी–बड़ी धाराओं को आत्मसात् किया था। ये धाराएँ हैं उत्तर पूर्व के नाथपंथ और सहजयान का मिश्रित रूप, पश्चिम का सूफी मतवाद और दक्षिण का वेदान्तभक्ति वैष्णव धर्म। पर इनमें से अंतिम तीसरी धारा ही कबीर को, वास्तव में, सदा परिचालित करती रही। उन्होंने यह भी स्वीकार किया कि कबीर को जाति परम्परा और वातावरण से योग मिला था। वे योगियों की रूपान्तरित जाति में ही बड़े हुए थे। किन्तु फिर भी वे योग साधना को वह स्थान न दें सके जो उसे नाथपंथियों में प्राप्त था। वे योगप्रक्रिया के विरोधी नहीं थे, परन्तु हठयोगियों की सभी क्लिष्ट साधनाओं को आवश्यक नहीं समझते थे। योगियों की कुछ क्रियाओं का अभ्यास वे नापसंद नहीं करते थे पर उनके सभी अंगों को अंद्यभाव से स्वीकार नहीं करते थे। इसका कारण संभवतः द्विवेदी जी की दृष्टि में यह है कि वे सदैव वेदान्तभक्ति वैष्णव धर्म से ही परिचालित होते थे। कबीर ने यौगिक क्रियाओं को भी ब्रह्माचार ही माना था। इनके द्वारा प्राप्त अनुभवों

और उपलब्धियों को वे अस्थायी और अनित्य मानते थे। उनकी वाणी वह लता है जो योग साधना के क्षेत्र में बीज पड़ने से अंकुरित हुई थी। नाथपंथियों से कबीरादि को ब्रह्मचर्य, वाक्संयम, शारीरिक शोच, मानसिक शुद्धता, ज्ञान के प्रति निष्ठा, ब्रह्म आचारणों के प्रति अनादर, आन्तरिक शुद्धि, मद्य—मासांदि के पूर्ण बहिष्कार के विचार मिले जिन्होंने संत मत को चारित्रिक बल प्रदान किया और परिणामतः संपूर्ण भक्ति काल में चारित्रिक दृढ़ता का वैलक्षण्य संतों के लिये जीवनदाता बन गया। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने नाथों और संतों की इतनी आलोचना करते हुए भी उनकी इस विशिष्टता की प्रशंसा की है। ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि संतों को यह वैलक्षण्य नाथों से मिला दूसरी बात यह है कि डा० बड़थ्वाल, डा० द्विवेदी आदि ने यह स्वीकार कर लिया कि कबीरादि की मुख्य प्रवृत्ति वैष्णव भक्ति भी जो योगादि के ग्रहण में भी महत्वपूर्ण कार्य करती थी। रामानंद के संबंध में भी कुछ न कुछ ऐसी साधना अवश्य थी जिसके कारण योगप्रधान भक्तिमार्ग, निर्गुणपंथी भक्तिमार्ग और सगुणोपासक भक्ति तीनों ही के पुरस्कर्ता भक्तों ने उन्हें अपना गुरु माना है।

संत साहित्य के आलोचकों के इन विचारों से चार निष्कर्ष मिलते हैं। प्रथम तो यह कि संतों की योग साधना का उद्भव और विकास नाथों के योग साधना से हुआ। दूसरे, संतों ने नाथों की योग साधना के विभिन्न पारिभाषिक शब्दों, प्रक्रियाओं एवम् अंगों को अपने ढंग से ग्रहण किया अथवा उनमें परिवर्तन कर दिया। तीसरे, कुछ लोगों के मतानुसार कबीर की गुरुपरंपरा में राघवानंद और रामानंद योगसाधक और योगोपदेशक थे। चौथे, वैष्णव भक्ति ही कबीर के सारे विचारों और भावों को सदैव परिचालित करती रही। इन निष्कर्षों पर विचार करने से दो प्रश्न उठते हैं। पहला तो यह कि यदि कबीर के विचारों और भावों की परिचालिका भक्ति थी तो क्या वैष्णव भक्ति में योग साधना का सर्वथा अभाव था दूसरे, यदि वैष्णव भक्ति में योग साधना के लिये भी स्थान है तो यह सम्भव है कि कबीर को योगसाधन वैष्णव भक्ति के साथ मिली है। ऐसी

स्थिति में इतने परिश्रम से साधत नाथयोगियों और कबीर के जातिगत संबंध के परिणामस्वरूप उपलब्ध योग साधना के सिद्धान्त की क्या संगति और उपयोगिता है? अभी तक विद्वानों के जो तत्वसंबंधी विवेचन उपलब्ध हैं उनसे यह पता लगता हे कि प्राचीन वैष्णव ग्रंथों में भक्ति के साथ विवेचित होने वाले योगसाधना पर विद्वानों ने अभी तक विचार नहीं किया है और न यह बतलाया है कि संतों के योग का आधार, उनकी भक्ति के समान ही, वैष्णव योगसाधना विवेचित और प्रचिलत थी। योग साधना और भक्ति में कोई मेल सम्भव नहीं, इसके खंडन के लिये पं0 राचन्द्र शुक्ल के उस कथन को ध्यान में रखा जा सकता है जिसमें उन्होंने तुलसी की भी भक्ति में योग साधना का सद्भाव था अतः सम्भव है कि कबीर को भक्ति के समान योग साधना भी वैष्णवों से मिली हो किन्तु अभी तक आलोचकों ने इस सम्भावना की ओर संकेत भी नहीं किया है। वैष्णवों के सम्प्रदाय में और उनके प्राचीन साहित्य में योगसाधना का पर्याप्त प्रचलन और विवेचन था। नाथयोगियों से प्रभावित जाति में उद्भूत और एक भिन्न वातावरण में पालित होने पर कबीर को योग साधना, योग साधना से सम्बंधित शब्दावली आदि सहज की उपलब्धी हो गयी थी। जब तक कबीर को भक्ति की प्राप्ति नहीं हुई थी तब तक उनका योग साधना नाथपंथी योग साधना ही रहा होगा; जिसके स्वरूपनिर्णय का हमारे पास कोई आधार नहीं हैं, किंन्तु भक्ति से प्रभावित होने पर उनके योग साधना का स्वरूप क्या था इसका निर्णय करने के लिए हमारे पास उनकी रचनाएँ हैं। भक्ति का वह स्वरूप और स्थान उन लोगों ने स्वीकार नहीं किया था जो वैष्णव भक्तों को स्वीकार था। अतः अभी यह अनुमान किया जा सकता है कि भक्ति को प्रमुखतम तत्व के रूप में स्वीकार कर लेने पर भी, कबीर ने योग साधना को या योगयुक्त ज्ञान को भक्ति की प्राप्ति में सहायक के रूप में स्वीकार कर लिया होगा। नाथों के योग में इस प्रकार के किसी विकल्प की संभावना नहीं की जाती। वैष्णवों के शास्त्र और मत में योग साधना को यह स्थान दिया गया है। अतः यह अनुमान उचित और सभी समस्याओं का समाधानकारक प्रतीत होता

है कि नाथपंथियों की परंपरा से प्राप्त योग साधना का पूर्णतया परित्याग कबीर ने प्रेमाभक्ति को चरम साधन के रूप में स्वीकार कर भी नहीं लिया था। यद्यपि उनकी स्थान उसके साधना में वही नहीं रहा जो नाथ योगी साधन में उन्हें प्राप्त था।

कबीरादि की रचनाओं में उपलब्ध योग साधना का स्वरूप नाथयोगियों के योग साधना के समान ही है। अतः वैष्णव योग साधना से उसकी परम्परा सिद्ध नहीं की जा सकती। इसके निवारण के लिये कुछ मुख्य और प्रारंम्भिक बातों को ध्यान में रखा जा सकता है। पहले ही कहा जा चुका हैं, तांत्रिक साधना का प्रभाव प्रमुख रूप से बहुत पहले, वैष्णवों और संख्याओं के अंतर के साथ प्रायः सभी साधना पद्धतियों में मिलता है। प्रायः सभी बातों और सम्प्रदायों ने अपने सिद्धांतों के अनुकूल इस तांत्रिक योग साधना को स्वीकार किया था। वैष्णवों के योग का जो परिचय दिया गया है उससे यह स्पष्ट हो गया है कि वैष्णवों के भी योग में प्राणायाम, षट्चक्रभेघ, कुंडलिनीयोग, नाड़ीसाधन आदि गृहित थे। इसके अतिरिक्त प्राचीन वैष्णव ग्रंन्थों में योग भक्तिसिद्धि में केवल सहायक है। संतों के योग साधना का स्परूपनिर्णय करने पर ऊपर कही हुई बातें और अधिक स्पष्ट और पुष्ट रूप में सामने आ सकेगी।[1]

संतों के योग साधना के इस प्रकरण में अभी तक जो कुछ भी प्रस्तुत किया गया है उसमें यथास्थान संतों के गुरूशिष्यवाद, अधिकाभेदवाद, लक्ष्यनिरूपण तथा पिंडब्रह्माडववाद एवं तत्वसंबंधित अन्तस्साधना का विचार किया गया है। विचार का विषय यह है कि पिंड में ही ब्रह्माण्ड की अथवा परमपद की उपलब्धि तथा मानसशुद्धि के कौन–कौन सी साधना संतों ने स्वीकार किये हैं? यह ध्यान रखना चाहिए कि गोरखनाथ ने योगयुक्त ज्ञान को साधन के रूप में स्वीकार किया है। भक्ति के संदर्भ मे स्पष्ट है कि संतों का चरम साधन भक्ति है। इस प्रकार यहाँ यह भी विचार है कि योग, ज्ञान और भक्ति को संतों की रचनाओं में कौन–सा स्थान प्राप्त है। इसके बाद संतों के

1. डॉ0 नागेन्द्रनथ उपाध्याय, नाथ और संत साहित्य, पृ0 435–443.

योग साधना के स्वरूप का विचार करते हुए यथाप्रसंग नाथों के योग साधना अथवा योगांगों के साथ उसकी तुलना भी करेंगे। कबीरादि की रचनाओं में कहीं–कहीं योगसाधना के खण्डन और अनावश्यकता के विचार भी मिलते हैं। उनके संपूर्ण साधन में योग का कोई न कोई रूप अवश्य स्वीकृत है, उसमें सन्देह नहीं। अतः यह भी देखना चाहिए कि संत योग साधना के किस रूप को स्वीकार कर उसके किस रूप का निषेध करते हैं। नामों के योग साधना में यह बतला चुके हैं कि वे हठयोग को राजयोग के लिये सहायक के रूप में स्वीकार करते हैं। हिन्दी रचनाओं में प्राण, मन आदि के परस्पर नियंत्रित हो जाने की बात कहीं गई है। अधिक जोर मन और प्राण के नियंत्रण पर दिया गया है और बिना शुक्संयम के मन–प्राण संयम् को असंभव बताया गया है। मन से पवन नियंत्रित होता है अथवा पवन से मन, इसके संबंध में नाथपंथी एकमत नहीं है। किन्तु इतना निश्चित है कि राजयोग के सहायक के रूप में हठयोग को स्वीकार करने पर यह प्रायः स्वयंसिद्ध है कि साधना में नाथसिद्ध सबसे पहले आधिभौतिक और आधिदैविक (प्राण और शुक्र) तत्वों को साधना चाहते हैं और बाद में चित्तसाधक को महत्व देते हैं। इन बातों पर ध्यान रखने से आगे संतों के योग साधना के स्वरूप का निर्वाचन कर उसकी तुलना करने में सुविधा होगी।

नाथों की योग–साधना के परिचय में बताया गया है कि ये साधना के तीन तत्वों को प्रमुख मानते हैं– प्राण, शुष्क और मन। वे इनमें से किसी एक को प्राथमिकता देते दिखाई नहीं पड़ते। किन्तु साधनाक्रम में वे क्रमशः बिंदुरक्षा, प्राणसंयम और मानस संयम को स्वीकार करते हैं। यह एक प्रकार का आधिवैदिक, आधिभौतिक और आध्यात्मिक साधनों का समन्वय है। यम, नियम के अर्न्तगत ही, प्राणायाम के पूर्व, ब्रह्मचर्य को स्थान देने से यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है। संत लोग कायासाधना को महत्व नहीं देते। भक्ति को मन को लगा देने पर शरीर का नियन्त्रण स्वयं हो जाता है। विशेषकर कृच्छाचारप्रधान साधना को वे बिल्कुल स्वीकार नहीं करते। नारी के

कामिनी रूप से बचने का वे भी उपदेश करते हैं यद्यपि बिंदूरक्षा का स्पष्ट वर्ण उनके साहित्य में उपलब्ध नहीं। योग सम्बन्धी सारी क्रियाओं में उनका ध्यान मानस–संयम पर ही रहता है। प्राणायाम के बाद ही प्रत्याहार और धारणा की निवृति यद्यपि संत साहित्य में उपलब्ध नहीं होती किन्तु विभिन्न वर्णनों के आधार पर उनका अनुमान किया जा सकता है। यम, नियम, आसन, षट्कर्म का प्रत्यक्ष वर्णन कबीर आदि में उपलब्ध नहीं। सुन्दरदास ने अवश्य ही योग–साधना का वर्णन करते समय इनका परिचय दिया है। इससे यही प्रकट होता है कि सन्तों ने सहज साधना को ही महत्वपूर्ण माना है यदि प्राणायाम को आधिभौतिक साधना कहा जाय तो संत लोग इसे भी स्वीकार करते हैं। 'हठ' का अर्थ सन्तों ने कहीं नहीं दिया किन्तु कृच्छाचारप्रधान हठयोग का, जैसा विभिन्न अर्थ विद्वानों ने बताया है, विरोध और निषेध अवश्य किया है। 'सूर्य–चन्द्र–साधना' के अर्थ में सन्तों ने हठयोग को स्वीकार कर लिया है। इस प्रकार दृष्टि से सन्तों पर नाथों का महत्वपूर्ण प्रभाव दिखाई पड़ता है।

नाथ और संत साहित्य में योग साधना के प्रकरण में समानता स्पष्ट है कि दोनो ने यम–नियम का स्पष्ट उल्लेख नहीं किया है तथापि उसके आचारों, संयमों का यत्र–तत्र वर्णन किसी न किसी रूप में मिल जाता है। इसलिए स्पष्टतया यह नहीं कह सकते हैं नाथों और सन्तों के योग अष्टांग योग है। इसी प्रकार अष्टांग योग अथवा षडंग योग के विभिन्न अंगों का जिस प्रकार अनुमान नाथ साहित्य में किया है, उसी प्रकार संत साहित्य में केवल अनुमान किया जा सकता है।[1]

गोरखनाथ का कथन है कि हठयोग का जो साधक काया से परिचित नहीं है, उससे योग की सिद्धि की क्या आशा हो सकती है। अतएव नाथ पंथ की साधना का लक्ष्य है मुक्ति और वह मुक्ति, कुण्डलिनी उद्बोध के द्वारा प्राप्त होती है। उसके लिए बिन्दु, वायु और मन का अचंचल और स्वाधीन होना ही साधक का लक्ष्य है।

---

1. डॉ0 नागेन्द्रनाथ उपाध्याय, नाथ और संत साहित्य, पृ0 489–491.

हठात् ही मुक्तिद्वारा खुल जाने के कारण गोरखनाथ की साधना को हठयोग की साधना कहा गया है। नाथपंथी साधना पद्धति पर पूर्व में ही विस्तार से चर्चा की जा चुकी है, यहाँ केवल यही दृष्टव्य है कि वस्तुतः जिस साधना पद्धति ने हिन्दी के मध्ययुगीन भक्ति काव्य को प्रभावित किया उसका स्वरूप क्या था। नाथ पंथ योगमार्ग ही है। योग इस देश की प्राचीन विधा माना गया है, नाथ पंथ में प्रचलित हठयोग साधना मूलरूप में प्राण वायु के निरोध की साधना है।

जो कुछ ब्रह्मांड में है वही पिण्ड में है। पिण्ड में जो परम शक्तिशाली वस्तुएँ हैं वे हैं बिन्दु, प्राण तथा मन। इन तीनों में से यदि एक की साधना भी साधक कर लेता है तो शेष अपने आप स्थिर हो जाती हैं। बिन्दु अर्थात वीर्य की रक्षा के लिए ब्रह्मचर्य और प्राणायाम आवश्यक है किन्तु यह कार्य भी बिना कार्या न्में परिव्याप्त नाड़ियें की शुद्धि के सम्भव नहीं है। नाथ पंथ में शुद्धि की क्रियाओं को षटकर्म कहा गया है। वे हैं– घोति, वस्ति, नेति, त्राटक, नीलि और कपालभाति। नाड़ी शुद्धि होने के बाद प्राणादि वायुओं का शमन हो जाता है। नाड़ियों को दो भागों में बाँटा गया है – एक भाग सूर्य का अंग माना गया है और दूसरा चन्द्रमा का। इड़ा और पिंगला जिन्हें सूंर्यांग और चन्द्रांग कहा गया है। उसके मध्य सुषुम्ना है। जब नाना भाँति के अभ्यास से योगी चन्द्र और सूर्य मार्गों को बन्द कर देता है तब उनमें बहने वाली वायु शक्ति संयमित होकर योनिकंद के मुल में स्थित सुषुम्ना की मध्यवर्तिनी ब्रह्मानाड़ी के मुख को खुला पाकर उस मार्ग से ऊपर उठती है तो वस्तुतः कुण्डलिनी ही ऊर्ध्व मुख होती है।

इस प्रकार प्राण वायु का निरोध करने पर कुण्डलिनी उद्‌बुद्ध होती है और (1) मूलाधार, (2) स्वाधिष्ठान, (3) मणिपुर, (4) अनाहृत, (5) विशुद्धाख्य, तथा (6) आज्ञा इन षटचक्रों को भेदकर सहस्त्रार में कुण्डलिनी का पहुँचा देना योगी का लक्ष्य हो जाता है। यही इस पिंण्ड का कैलाश है, यही शिव का निवास है। इस प्रकार कष्ट साध

य साधना का यह मार्ग मूलरूप से शरीर के शोधन का मार्ग है। जब तक शरीर को कष्ट न दिया जायेगा तथा संसार छोड़कर एकान्त साधना न की जायेगी तब तक मुक्ति केवल भ्रम है। मुक्ति का दान वही कर सकता है जो स्वयं मुक्त हो, नाथ ही केवल मुक्तिदाता है। संसार के रूप, रस, स्पर्श, गध तथा शब्द से तभी मुक्ति मिल सकती है जब वैराग्य की भावना हो तथा गुरु का आश्रय। बिना गुरु के नाथपंथी साधना सम्भव नहीं है। गुरु का बताया हुआ मार्ग षंग से भी तीक्ष्ण और कठिन है।

अभरा था ते सुभर भरिया, नीझर झरता रहिया।
षांडे थे पुरसाड़ दुहेला, यूं सतगुरु मारग कहिया।[1]

वेदान्त तन् से परिचित हो जाने पर हठयोग की सिद्धि हो जाती है, आत्मा और परमातत्मा का अभेद सिद्ध हो ।

नाथपंथी साधना के सम्बन्ध में कुण्डलिनी की चर्चा अधिकांश ग्रन्थों में है यद्यपि कभी–कभी साधना ग्रन्थों से कुण्डलिनी योग तथा हठयोग को भिन्न माना गया है तथापि नाथपंथी साधना को लोक परिचित रूप कुन्डलिनी योग के परिचय बिना पूर्व नहीं माना जा सकता। कुण्डलिनी और प्राण शक्ति को लेकर जीवन मातृकक्ष में प्रवेश करता है। सभी जीवन साधारणतया तीन अवस्था में रहते हैं – जागृत, सुषुप्ति और स्वप्न। अर्थात् या तो वे जागते रहते हैं या सोते रहते हैं या सपना देखते रहते हैं। कुण्डलिनी तीनों अवस्थाओं में निश्चेष्ट रहती है। प्राणशक्ति के संयोग से कुण्डलिनी के द्वारा शरीर धारण का कार्य होता है, नाथपंथी साधना में काया की साधना को इसीलिए इतना महत्व प्रदान किया प्रतीत होता है। सम्पूर्ण काया अनेक चक्रों में बांटी गयी है जिसकी चर्चा विस्तार से की जा चकुकी है। डा0 हजारी प्रसाद द्विवेदी ने नाथपंथी साधना की चर्चा करते हुए एक स्थल पर प्रकट किया है कि इन चक्रों के भेद करने के बाद मस्तक में शून्य चक्र ही मिलता है जहाँ जीवात्मा को पहुँचा देना योगी का चरम लक्ष्य है। इस

---

1. गोरखबानी, पृ0 62

स्थापन पर जिस कमल की कल्पना की गयी है उसमें सहस्त्रदल है। इसीलिए इसे सहस्रार में स्थित गगनमण्डल में औधे मुँह का अमृत कुण्ड है। यही चन्द्रतत्व भी है। इसमें से निरन्तर अमृत झरता रहता है। जो इस अमृत का उपयोग कर लेता है वह अजरामर हो जाता है। यह साधना बिना गुरु के प्राप्त नहीं हो सकती। नाथपंथी साहित्य में प्रचलित एक सबदी इस प्रकार है :

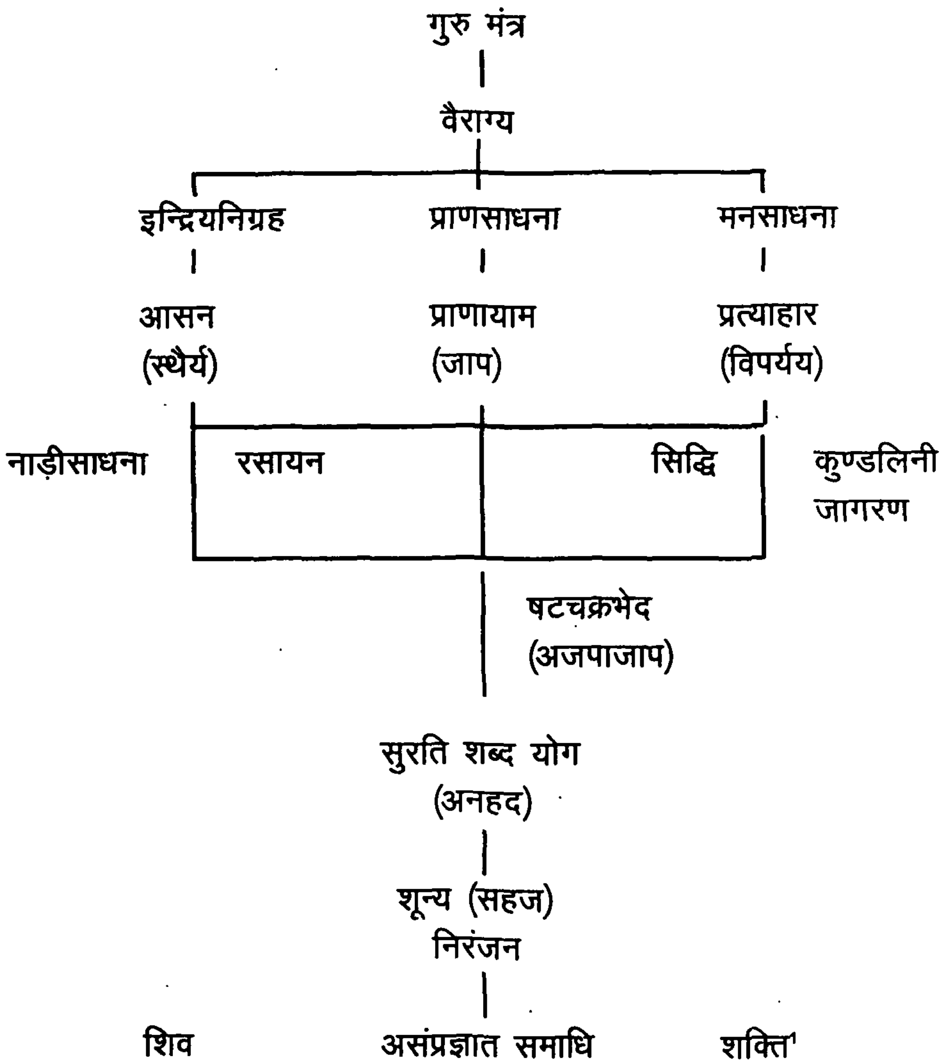
गगन मण्डल में औंधा कुंआ तहं अमृत का वासा।
सगुरा होय से झरझर पिया निगुरा जाहि पियासा।।[1]

यद्यपि नाथपंथी साधना गुरु मन्त्र प्रधान साधना विद्यानों द्वारा मानी गयी है फिर भी साधक जब तक काया शोधन नहीं कर लेता तब तक इस साधना का अधिकारी नहीं हो सकता। काया साधना से ही मुक्ति का बोध अनेक नाथपंथी साधकों ने मान लिया इसलिए नाथपंथी साधना के साहित्य में षटकर्म, आसन, मुद्रा, प्राणायाम, ध्यान और समाधि की विस्तृत चर्चा है। आसनों में सिद्धासन, मुद्राओं में खेचरी मुद्रा प्राणायाम में केवल्य।

हठयोग में समाधि के वाचक अनेक शब्द हैं, जिनका प्रयोग नाथ पंथी साधकों ने रचनाओं में किया है। उन्मनी, मनोन्मनी, अमरत्व, लय, तत्व, शून्य, अशून्य, परमपद, अमनस्क, अद्वैत, निरालम्ब, निरंजन, जीवनमुक्त सहज की अवस्था में ही इंदिय, मन और प्राण एकीभूत हो जाते हैं। आत्मा को शून्य और शून्य में आत्मा को करके योगी अपना चरम प्राप्त कर लेता है। डा0 रामकुमार वर्मा ने नाथ पंथ की साधना पद्धति के सम्बन्ध में निम्नलिखित रेखाचित्र अपने हिन्दी साहित्य के आलोचनात्मक इतिहास में दिया है जिससे नाथपंथी साधना का वाह्य स्वरूप सामने आ जाता है :

---

1. गोरखबानी पृ0 2



उक्त विवेचन से यह तथ्य प्रकट है कि नाथपंथी साधना पद्धति का स्वरूप केवल शास्त्र–प्रधान ही नहीं है, परिस्थितियों के परिणामस्वरूप उसमें एक नैतिक स्वर का प्रबल प्रभाव स्पष्ट है। इन्द्रिय, प्राण और मन की साधना तभी तक नाथ पंथ में ग्राह्म है जब तक योगी नैतिक आचरण और कठोर संयम का पालन करता है। डा0 हजारी प्रसाद द्विवेदी ने नाथ पंथ में नैतिक आग्रह की चर्चा करते हुए लिखा है कि इस मार्ग में कठोर ब्रह्मचर्य, वाक्संयम, शारीरिक शौच, मानसिक शुद्धता, ज्ञान के प्रति निष्ठा,

1. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास— डा0 रामकुमार वर्मा, पृ0 115

बाह्य आचरणों के प्रति अनादर, आंतरिक शुद्धि और मद्यमांसादि के पूर्ण बहिष्कार पर जोर दिया गया है। हिन्दी में पाये जाने वाले पदों में यह स्वर बहुत स्पष्ट और बलशाली है।

नाथपंथी साधना में जिस इन्दियनिग्रह की चर्चा पूर्व में की जा चुकी है उसका लोक प्रभावी रूप नारी भर्त्सना के द्वारा पकट हुआ। योग की वज्रयानी साधना में नारी संसर्ग ने वामाचार की सृष्टि थी वह गोरखनाथ की दृष्टि से ओझल न हो सकी। लोक जीवन में नाथपंथी साधना वैराग्य प्रवण होकर सामने आयी। तत्व चिंतन की लुभाने वाली काव्यावली से उठकर गोरखनाथ के अनुयायी संयम और नियम की कठोर साधना को ही मानने लगे। यह साधना पद्धति सिद्ध सम्प्रदाय की रूढ़ियों के विरोध में बलवती होती चली गयी। इस साधना में काया को तीर्थ माना गया। पाखण्डों के विरोध में, मंत्रों की निस्सारता में तथा आचरणहीन व्यक्तित्व की अवहेलना में गोरखनाथ ने जिस साधना पद्धति का प्रवर्तन किया वह प्राचीन योगिपरम्परा का एक प्रबल सामयिक विस्फोट ही कहा जायेगा। यद्यपि डा0 रामकुमार वर्मा ने नाथपंथी साधना को सिद्धों की सहज भावना का परिवर्द्धित रूप माना है तथापि यह साधना पद्धति सिद्ध सहज भावना के अनुकूल नहीं बन पड़ी। गोरखबानी में ऐसी अनेक सबदियाँ उपलब्ध होती हैं जिनमें सहज साधना का स्वरूप प्रधान है :

हसिबा षेलिबा रहिबा रंग। काम क्रोध न करिबा संग।।
हसिबा खेलिबा गावा गीत। दिढ़ करि राखि अपना चित्त।।[1]

चित की दृढ़ता ही हठयोग की साधना का मूलमंत्र बना। पंचमकारों के सेवन से उपलब्ध सहज साधना का गोरखनाथ ने विरोध किया, यद्यपि परवर्ती नाथ पंथ उससे अछूता न रह सका फिर भी नाथपंथी साधना उसके प्रवर्तक के मतानुसार सहज

1. गोरखबानी, पृ0 3

साधना ही थी, यदि यह सहजानुभूति काया प्रधान मानी जाय तो कोई अत्युक्ति न होगी। योगी के लिए आचरण प्रधान साधना का निम्नलिखित उपदेश तत्कालीन प्रभाव एवं संयत परिचय दे सकता है।

तत्वचिन्तन की गूढ़ सहजभावना और लोकप्रचलित सरल और स्वाभाविक साधना में अन्तर है। साधना का यह स्वरूप शास्त्रीय एवं तर्क प्रधान शैली से अनुभव प्रधान होता चला गया। संत साहित्य इसी साधना का एक नया मोड़ माना जा सकता है।

नाथपंथी साधना जटिल कर्म पद्धति का आश्रय लेकर इस युग में प्रभावशाली सिद्ध हुई थी किन्तु आगे चलकर उसमें अनेक सिद्धियों का समावेश हो गया। वे सिद्धियाँ केवल सद्गुरु की कृपा से उपलब्ध हो सकती थीं। 'गुरुमहिमा' की अधिकता के कारण तत्कालीन लोक जीवन में शास्त्रपरक कर्मकाण्ड की अवहेलना हुई। मध्य युग की इन परिस्थितियों के फलस्वरूप कठोर गुह्या और आनन्दकारी साधनामार्ग भी लोक में भय और संशय की दृष्टि से देखे जाने लगे। यह बात–प्रतिघात लोक चिन्ता के स्थित सापेक्ष्य परिणाम माने जा सकते हैं। जिस नाथपंथी साधना ने बौद्ध सिद्ध साधना के प्रति जनमानस में हेय भावना उत्पन्न की थी वही साधना अपनी कठोर एवं असामाजिक प्रवृत्ति के कारण सामान्य जीवन का केन्द्रबिन्दु न बन सकी। नाथ पंथ में अन्तर्मुक्त अनेक साधनाओं के सम्मिश्रण के फलस्वरूप योगियों के सम्बन्ध में अद्भुत और आश्चर्यजनक कारामातों की कहानी प्रचलित हो गयी। हठयोग और तन्त्रवाद के उस युग में गुरुवाद विकृत रूप धारण कर सम्पूर्ण देश में व्याप्त हो गया। डा0 हजारी प्रसाद द्विवेदी का अनुमान है कि जबकि हठयोग की पद्धति क्रियाबहुल रही होगी उस समय इस पद्धति का साधक विरल होना नितान्त स्वाभाविक है, पर जब गुरु की कृपा पर सब कुछ निर्भर किया जाने लगा होगा तो स्वभावतः ही अधिकाधिक लोग सद्गुरु की खोज में ही लगे होंगे। फलतः नाथपंथी साधना कालान्तर में काया साधना और गुरु कृपा तक ही सीमित

रह गयी जिसमें कुण्डलिनी उत्थान प्रक्रिया की प्रधानता है किन्तु युग संक्रमण की परिस्थिति में नाथपंथी साधना का केवल यही रूप ही लोक जीवन में व्याप्त नहीं हुआ, रूढ़ियों के प्रति उपेक्षा, मिथ्याडम्बरो की भर्त्सना, आचरण की कठोरता, आहार की शुद्धता और कष्टपूर्ण जीवन के प्रति अमनस्क भाव की सृष्टि इस साधना के माध्यम से लोक जीवन में व्याप्त हुई। नाथपंथी साधकों का जो विवरण विद्वानों ने दिया है उसमें मिश्रित परिणामों की स्थिति का आभास होता है। कालान्तर में इस साधना का परिचय नाथपंथी साधक के वेष में परिवर्तित हो गया। नाथपंथी साधक मेखला, सृंगी, सेली, गूदर्री, खप्पर, कर्ण, मुद्रा, वधंबर, झोला आदि चिन्ह धारण कर अपनी साधना को प्रकट करने के बाह्य उपकरणों से पूर्णतया सम्बद्ध हो गये। साधना के प्रति गृह्या और आतंककारी भाव की लोक जीवन में सृष्टि हुई। फलस्वरूप, गोरखनाथ के समान महिमामय व्यक्तित्व की साधनाप्रवण देशव्यापी चेतना वाह्य आडम्बर और जादू टोना में परिवर्तित हो गयी। नाथपंथी साधना का यह रूप सम्भवतः इसलिए भी हुआ कि इस पंथ में स्मार्त साधना अथवा आचारों को कोई महत्व नहीं दिया गया तथा नाथपंथी साधना अपने जिस रूप में भी वर्तमान थी वह स्मार्त हिन्दू धर्म में न खप सकी।

नाथपंथी साधना की संक्षिप्त समीक्षा के आधार पर हमारा यह अनुमान है कि नाथपंथी की अद्वैत अनुभूति औार साधना के रूप में प्रचलित काया शोधन का आग्रह अपने किसी न किसी रूप में साधना मार्गों में बना ही रहा। श्री परशुराम चतुर्वेदी ने एक स्थल पर प्रकट किया है कि गुरु गोरखनाथ का अधिक ध्यान काया शोधन की ओर ही था, जो कतिपय आसनों व एक संयत जीवन का भी परिणाम हो सकता है और इनकी योग साधना की प्रणाली में अधिकतर उन्हीं बातों का समावेश था जो सहजयोग में पायी जाती है। संतों में प्रायः इन सभी साधनाओं का कुछ न कुछ स्परूप मिल ही जाता है यद्यपि यह नहीं कहा जा सकता है कि संत काव्य नाथपंथी साधना कही पूर्णतया अनुवर्ती है। डा0 बड़थ्वाल भक्ति धारा के जल को पहले योग के ही घाट में बहा हुआ मानते हैं।

किन्तु डा0 हजारी प्रसाद द्विवेदी का कथन है कि संतों के पारिभाषिक शब्द, उनकी रूढ़िविरोधिता, उनकी खण्डनात्मक वृत्ति और उनकी अक्खड़ता आदि उनके पूर्ववर्ती साधकों की देन है परन्तु उनमें की आत्मा उनकी अपनी है उसमें भक्ति का रस है और वेदान्त का ज्ञान है।[1]

नाथों का सन्तों पर विशेष रूप से प्रभाव पड़ा था। जो साधना पद्धतियाँ गोरखबानी में मिलती है वही साधना पद्धतियाँ सन्तों में विकसित रूप से मिल जाती है। हठयोग प्रदीपिका में महामुद्रा का जैसा उल्लेख है और वज्रोली, सहजोली आदि साधनाओं का जो वर्णन है वह स्पष्टतः वज्रयानी परम्परा से मालूम पड़ता है।

इस दृष्टि से कबीर और गोरख के स्वरों में दो ध्रुवों का अन्तर आ गया था। कबीर, दादू आदि का परिचय जिस नवी भक्ति साधना से हुआ था, उसके प्रति उनमें विशेष उत्साह था, उन्होंन एक नई निष्ठा, एक नई आस्था ग्रहण की थी जिसमें ज्ञान और योग गौण थे, भावना और भजन प्रमुख थे।

किन्तु फिर भी उन्होंने योगमार्ग का परित्याग नहीं किया था। स्वतः कबीर को भक्ति की दीक्षा जिस गुरु से मिली थी उसने योग तथा भक्ति का समन्वय करने का प्रयास किया था। रामानन्द तथा उनके गुरु राधवानन्द जी, विशिष्टाद्वैतवादी थे किन्तु परम्पराओं से ज्ञात होता है कि दोनों ही सिद्ध योगी थे किंवदन्ती तो यहाँ तक कहती है कि रामानन्द का अल्पायु में मारक योग था। पहले वे किसी अद्वैतवादी गुरु के शिष्य थे जो उन्हें रामानन्द को सौंप गया। गुरु रामानन्द के नाम पर सिद्धान्त पंचमात्रा नामक जो कृति डा0 बड़थ्वाल को मिली है उसमें भी उनकी परम्परा के किसी शिष्य ने उनके साधनामार्ग को योग और प्रेम का समन्वित रूप बताया है। राजा दलजीत सिंह ने भी डा0 मोहन सिंह की पुस्तक के प्राक्कथन में रामानन्द पर गोरखनाथ के यागमार्ग के गहरे

---

1. डा0 कोमल सिंह सोंलकी, नाथपंथ और निर्गुण संत काव्य, पृ0 190–196

प्रभाव का उल्लेख किया है।

इस प्रकार कबीर को भक्ति साधना की दीक्षा जिस गुरु से मिली, वह भी योगमार्ग को भक्ति का विरोधी नहीं मानता था और इसलिए कबीर ने भक्ति साधना के साथ योग साधना को भी प्रश्रय दिया और योगमार्गी परम्पराओं में जो भी वज्रयानी साधना पद्धतियाँ, पारिभाषिक शब्द, प्रतीक और उलटवासियाँ चलीं आ रही थीं वे सबको तथा उनके अनुयायी सन्तों को उत्तराधिकार रूप में प्राप्त हुई। तब वज्रयानी सिद्धों का कोई प्रत्यक्ष प्रभाव शेष रहा हो ऐसी कोई सम्भावना नहीं है। वास्तव में कबीर तथा अन्य सन्तों ने ये प्रभाव छोटे–छोटे योगमार्गी सम्प्रदायों से ग्रहण किए जिनमें वज्रयानी परम्पराएँ किसी प्रकार शेष रह गयी थीं, किन्तु समय के साथ–साथ उनमें भी कुछ परिवर्तन और विकास हो चुका था।

ऐसे छोटे–छोटे सम्प्रदाय पूर्वी भारत या पश्चिमी भारत दोनों ही क्षेत्रों में अवशिष्ट थे और साधारण निम्न वर्ग की जनता में उनका यथेष्ट प्रभाव था। लगभग यही गोरखनाथ ने अपने समय में प्रचलित वज्रयानी सम्प्रदायों के लोकप्रिय पारिभाषिक शब्दों के साथ किया था। अतः यह प्रभाव वास्तव में इस रूप में नहीं था कि सन्तों ने वज्रयानी साहित्य पड़ा हो या सिद्धों के वचन सन्तों के समय तक ज्यों के त्यों प्रचलित हों और उन्होंने उसमें से बहुत सा अंश अपना लिया हो। वास्तविकता तो यह है कि जिस समय कबीर ने सहज शून्य आदि का व्यवहार किया उस समय उन्हें इसका लेशमात्र आभास भी न रहा होगा कि ये शब्द उन्हीं सिद्धों के हैं जिनके विषय में स्वतः कबीर लिखते हैं 'षट्दरसन संसे पड़्या अस चउरासी सिद्ध भक्ति के आगे सिद्धि और सिद्धों के प्रति कबीर तथा परवर्ती सन्तों ने एक घोर उपेक्षा का भाव आ गया था, यहाँ तक कि पलटूदास भक्ति के मार्ग में केवल सन्तों का ही गुजर बताते हैं और स्पष्ट करते हैं कि

सिध चौरासी, नाथ नौ बीचे सर्वे भुलान

बीचै सबै भुलान भक्ति की मारग छूटी

हीरा दिहिन है डारि लिहिन हैं कौड़ी फूटी।[1]

इस प्रकार इस अध्याय में प्रस्तुत अध्ययन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि "गोरखबानी" का साधना की दृष्टि से भी सन्तों पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ा है।

---

1. डॉ० धर्मवीर भारती, सिद्ध साहित्य, पृ० 326–328.

अध्याय : 7

उपसंहार

मध्ययुगीन धर्म–साधना और मध्ययुगीन साहित्य को नाथ–सम्प्रदाय ने बहुत दूर तक प्रभावित किया है। नाथ सम्प्रदाय में गोरखनाथ का महत्व सर्वविदित है। नाथ सम्प्रदाय के साहित्य का सन्तों और उनके साहित्य पर गहरा प्रभाव पड़ा है। इस प्रभाव का अध्ययन ही प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में किया गया है।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध के प्रथम अध्याय में विषय प्रवेश के रूप में देश की सांस्कृतिक परम्परा के व्यापक सन्दर्भ में नाथ सम्प्रदाय के विकास और हठयोग की चर्चा है। विषय प्रवेश के प्रारम्भ में बताया गया है कि वैदिक काल में दो परम्परा रहीं– आगम और निगम। आगे चलकर इन परम्पराओं की उपधाराएँ बनती चली गयी। इन परम्पराओं पर प्रकाश डालने के सारे प्रयास शास्त्रों के आधार पर किये जाते रहें हैं। इसके अतिरिक्त विषय प्रवेश में नाथ सम्प्रदाय के विकास की चर्चा विस्तारपूर्वक की गयी है। नाथ सम्प्रदाय का विकास दो प्रकार से माना जाता है (1) नाथ सम्प्रदाय का विकास बौद्ध परम्परा से हुआ (2) नाथ सम्प्रदाय का विकास शैव परम्परा से हुआ। इसमें पहला मत अधिक उपयुक्त जान पड़ता है, क्योंकि नाथों और बौद्धों की जो सूचियाँ मिलती है उनमें अनेक नाम सामान्य है।

नाथ सम्प्रदाय की बारह शाखाएँ हैं, जिनमें सत्यनाथ, धर्मनाथ, रामपंथ, नाटेश्वरी, कन्हड़, कपिलानी, वैरागपंथ, माननाथी, आईपंथ, पागलपंथ, धाजपंथ, गंगानाथी इत्यादि। नाथ सम्प्रदाय का प्रथम नाथ आदिनाथ को माना जाता है।

गुरु गोरखनाथ को नाथ सम्प्रदाय का प्रर्वतक माना गया है। निश्चय ही

गोरखनाथ महान सिद्ध योगी और सिद्ध पुरुष थे जिनका प्रभाव सम्पूर्ण देश पर समान रूप से था। नाथ सम्प्रदाय को आगे बढ़ाने का काम गुरु गोरखनाथ ने ही किया। नाथ सम्प्रदाय में नवनाथ की चर्चा की गयी है :– गोरख़नाथ, एकनाथ, आदिनाथ, मत्स्येन्द्रनाथ, उदयनाथ, दंडनाथ, संतोषनाथ, कूर्मनाथ, जालंधरनाथ इत्यादि।

विषय प्रवेश में गोरखनाथ के समय निधारर्ण तथा वेश भूषा पर भी विचार किया गया है। गोरखनाथ के समय निर्धारण पर विभिन्न विद्वानों के विभिन्न मतभेद है। गोरखनाथ समय का अभी तक सही निर्धारण नहीं हो पाया है। कुछ विद्धान इनका समय 10वीं शताब्दी तक खींचते रहे है तथा कुछ विद्धानों ने तो गोरखनाथ के समय को 8वीं शती तक पीछे कर दिया है। गोरखनाथ का समय निर्धारित करने में अड़चन यह भी है कि नाथ सम्प्रदाय की एक मान्यता के अनुसार गोरखनाथ स्वयं ही आदिनाथ है और ब्रह्मा, विष्णु, महेश की उत्पत्ति भी गोरखनाथ से बतायी जाती है। गोरखनाथ से अनेक दन्त कथाओं से नामकों का सम्बन्ध जोड़ा जाता है। इस सम्बन्ध के कारण गोरख का तिथि निर्णय और भी दुष्कर हो गया है।

नाथपंथियों की वेशभूषा के सम्बन्ध में भी अनेक कथाएँ प्रचलित है। डा0 हजारी प्रसाद द्विवेदी ने अपने नाथ साहित्य में नाथों की वेशभूषा का विवरण किया है। नाथों के विशेष चिन्ह हैं मेखला, सृंगी, सेली, मयूरी, खप्पर, कर्णमुद्रा, बंधवर, झोला आदि ये चिन्ह धारण करने वालों को कनफटा भोगी कहा जाता था क्योंकि ये कान को फाड़कर उसमें कर्णमुद्रा पहनते थे। नाथों की वेशभूषा का विशेष महत्व था जायसी, सूर, कबीर आदि सन्तों ने इनका स्मरण वेशभूषा से ही किया है।

नाथ सम्प्रदाय का विकास के बाद विषय प्रवेश में नाथ सम्प्रदाय के स्वरूप और हठयोग की विस्तृत रूप से चर्चा की गयी है। नाथ सम्प्रदाय के स्वरूप और हठयोग को गोरखबानी में कई शीर्षकों के आधार पर विवेचित किया है जिनमें मूल स्वरूप, गुरुतत्व, परमतत्व, हठयोग के अंग, गोरखी संस्कृति इत्यादि।

नाथ पंथियों का लक्ष्य निर्माण, पद, चरमपद, नाथ पद की प्राप्ति है वहीं दूसरी तरफ सन्तों में इस पद्धति के लिए बराबर सहज योग नाम का प्रयोग मिलता है।

इस शोध प्रबन्ध के दूसरे अध्याय "गोरखबानी" के स्वरूप पर विचार किया गया है। हिन्दी साहित्य के इतिहास में गुरु गोरखनाथ की रचनाओं को विशेष महत्व दिया गया है। इनकी रचनाऐं प्रायः सिद्धों के बाद तथा सन्तों से पहले की मानी जाती है। अगर गोरखनाथ के समय से वर्तमान समय तक की रचनाओं का तुलनात्मक अध्ययन किया जाये तो इनके विषय, भाषा तथा शैली में कोई अन्तर नहीं दिखेगा लगभग एक प्रकार की विचारधारा और परम्परा का विकास बहुत लम्बे समय तक होता आया है।

नाथ सम्प्रदाय का साहित्य हिन्दी तथा संस्कृत दोनों भाषाओं में मिलता है। इसके अलावा अन्य भारतीय भाषाओं में भी नाथ सम्प्रदाय की रचनाऐं मिलती है। नाथ सम्प्रदाय संस्कृत रचनाओं में 'सिद्धसिद्धान्तपद्धति', 'गोरखसंहिता', 'महार्थमंजरी' इत्यादि है। हिन्दी रचनाओं में डा0 बड़थ्वाल की 'गोरखबानी' को ही एकमात्र रचना माना है। एक रचना डा0 हजारी प्रसाद द्विवेदी की है जिसमें 25 नाथसिद्धों की बानियाँ है। नाथ योगियों की बानियाँ कई हस्तलिखित प्रतियों में मिलती है। इन प्रतियों के द्वारा अब तक गोरखनाथ के नाम से गोरखबानी में चालीस छोटी–मोटी रचनाओं का पता चला है। लेकिन ये विवादास्पद हैं इनमें कुछ रचनाऐं महत्वपूर्ण रूप से तथा सही हालत में नहीं मिली है। भाषा की दृष्टि से भी इन रचनाओं में पर्याप्त भेद है। इसलिए यह कहना कठिन है कि कौन सी रचना गोरख रचित है तथा कौन सी परवर्ती परन्तु गोरखबानी का संत साहित्य पर तथा उनकी रचनाओं पर पूरा प्रभाव देखा गया है। चिंतन की दृष्टि से भी गोरखबानी का संत काव्य पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ा है। संत मत को नाथ मत का ही विकसित रूप स्वीकार किया जाता है लेकिन इस बात को पूर्ण रूप से सही मानने के लिए अनेक विचार व्यक्त किये हैं।

शोध प्रबन्ध के तृतीय अध्याय में आत्मा, परमात्मा, जगत, माया आदि पर

विचार किया गया है। संत कबीर ने आत्मा पर गहराई से विचार किया है कि आत्मा वो वस्तु है जो कभी नहीं मरती वह अन्त में ईश्वर में ही लीन हो जाती है। आत्म चिंतन की ओर नाथ सिद्धों ने भी पूरा ध्यान दिया भुकुसपा ने तो उक्त रूप के द्वारा प्रायः उन्हीं शब्दों में उसका वर्णन भी किया है।

संत कबीर ने परमात्मा के रूप को विराट माना है। वह परमात्मा को सृष्टि की रचना करने वाला मानते हैं वह कहते हैं कि परमात्मा ही सृष्टि को गढ़ने वाला है तथा वही नष्ट करने वाला भी है। संत कबीर परमात्मा के रूप को निर्गुण मानते हैं, नाथपंथियों ने भी परमात्मा के रूप को निर्गुण ही माना है। वे कहते हैं कि परमात्मा निराकार है उसका कोई रूप नहीं है। संतों तथा नाथों दोनों में जगत के प्रति एक से ही विचार मिलते हैं कि हमारी अनुभूति की अन्तिम सीमा अधिक से अधिक विश्व की कल्पना तक ही परिमित रह सकती है। माया के सम्बन्ध में सन्त तथा नाथ कवियों की कुछ एक सी विचारधारा देखने को मिलती है। इन्होंने माया को नारी बतलाया है जिसे विश्वमोहिनी सुन्दरी के रूप में चित्रित किया है।

'गोरखबानी' का भाव बोध की दृष्टि से भी सन्तों पर गहरा प्रभाव पड़ा है। जो भाव गोरखबानी के पदों में देखने को मिलते हैं आगे चलकर वही भाव सन्तों की बानियों में भी मिल जाते हैं। जैसे नाथ पंथियों की अक्खड़ता संत कवियों में भी देखने को मिलती है। नाथ सम्प्रदाय में बाहरी आडम्बरों का विरोध देखा गया है वहीं सन्तों में भी बाहरी आडम्बरों, छुआछूत, जातपाँत इत्यादि का विरोध किया है। जिस प्रकार नाथों ने गुरु के महत्व पर विशेष बल दिया है वही दूसरी तरफ सन्तों ने गुरु को ईश्वर तक पहुँचने का मार्ग बताया है।

इस अध्याय में रहस्यानुभूति पर भी विचार किया गया है कि नाथों तथा सन्तों के विचार एक दूसरे से मिलते जुलते है। सन्त के सिद्धान्तों को नाथपंथी योगियों ने अनेक रूपों में प्रभावित किया है। नाथों का कहना था कि जो कुछ भी ब्रह्माण्ड में है

वह सब पिण्ड में है। नाथपंथ साहित्य में मूलरूप से साधना मार्ग की ही व्याख्या की गयी है तथा कहीं–कहीं तत्वदर्शन भी उपलब्ध हो जाते है लेकिन नाथ तथा सन्तों के तत्वचिन्तन में अन्तर भी है।

नाथ साहित्य एक प्रकार से रहस्यानुभूति का साहित्य है जिसमें कवि और वर्ण्य की सत्ता अलग नहीं है। रहस्यवादी कवि के सामने कोई स्थूल वर्ण्य विषय नहीं होता, वह तो अपने विचारों को संकेतों से अव्यक्त करना चाहता है, जो नाथों के रहस्यवाद में पाये जाते हैं वहीं तत्व सन्तों की रहस्यमयी धारा में देखने को मिलते हैं।

'गोरखबानी' का सन्तों पर भाषा की दृष्टि से महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ा है। नाथों की भाषा को प्रायः संधा भाषा कहा गया है। नाथ साहित्य में इस प्रकार की शैली को 'उलटी चरचा', 'अमृतवाणी', 'सिद्ध संकेत' आदि शब्दों से अभिहित किया है। यह शैली ही 'उलटवाँसी' भी है। सन्तों तथा नाथों के कुछ छन्द तथा शैलियाँ एक सी है जो नाथों से सन्तों तक आयी थीं। नाथ साहित्य का स्वर बुद्धिवादी तथा दार्शनिक अधिक है। सन्तों और नाथों की साखियों और पदों के छन्द अधिकतर उन्हीं छन्दों के विकसित रूप है जो सिद्धों ने प्रयुक्त किये हैं। किन्तु प्रचुर विस्तार हुआ है और आगे चलकर उन पर सिद्धों के अतिरिक्त भी कितने ही अन्य प्रभाव पड़े हैं। उदाहरण के लिए सभी सन्तों और नाथों की वाणी का महत्वपूर्ण अंश दोहे में है किन्तु सिद्धों के दोहाकोषों में समचतुष्पदियों के साथ दोहे मिलते हैं।

सन्तों की साखियॉ और 'सलोकु' सिद्धों की अपेक्षा पश्चिम मुक्तक शैली के अधिक निकट है। दोहा चौपाइयों का एक अन्य काव्यरूप भी नाथपंथी बानियों तथा कबीरपंथी ग्रन्थों में मिलता है। सन्तों और नाथों द्वारा प्रयुक्त ऐसी भाषा पर योग तथा तत्वसम्बन्धी साहित्य का प्रर्याप्त प्रभाव है। सन्तों और नाथों की शैली प्रतीकात्मक और पौराणिक है। सन्तों की रचनाओं में साहित्यिकता अपेक्षाकृत अधिक है। वैज्ञानिक रीत्या संपादन के अभाव में सन्तों और नाथों के छन्दों का पूर्ण विवेचन संभव नहीं।

"गोरखबानी" का सन्तों पर साधना पक्ष की दृष्टि से भी महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ा है। नाथों और सन्तों दोनों ने अपनी समकालीन विभिन्न साधना पद्धतियों, मतों, सम्प्रदायों का खंडन–मंडन क्रमशः योगसाधना और साध्य नाथ तथा भक्ति और भगवान को ध्यान में रख कर किया। नाथ परम्परा इन दोनों से पर्याप्त पुरानी है जिसकी साधनापद्धति और जीवनादर्शन ने इन दोनों को प्रभावित किया था। शैवों और वैष्णवों में भी इसी प्रकार के खंडन–मंडन चलते रहे हैं।

हठयोग साधना की प्रधानता या कायासिद्धी नाथों का वैलक्षण्य है। नाथों में नादानुसन्धान, अजपाजाप, मन्त्रसाधना, षट्चक्रवेध, कुण्डलिनीयोग आदि का भी परिचय मिलता है। कबीर की साधना के सभी तत्व योग, ज्ञान, प्रेम, भक्ति, अहिंसा आदि मिल जाते हैं। सन्तों का सुरत–शब्द–योग भक्ति का एक अंग है, जबकि नाथों के सुरत –शब्द–योग का स्वरूप स्पष्ट नहीं है। अमृतपान, खेचरी, मुद्रा का वर्णन नाथों और सन्तों में मिलता है। सन्तों को मुख्यतया विहंगम योग स्वीकार है जबकि नाथ लोगों ने पिपीलिका या हठयोग की साधना को अनिवार्य माना है।

नाथपंथी साधना की संक्षिप्त समीक्षा के आधार पर यह कहा जा सकता है कि नाथपंथ की अद्वैत अनुभूति और साधना के रूप में प्रचलित काया शोधन का आग्रह अपने किसी न किसी रूप में साधना मार्गों में बना ही रहा। गुरु गोरखनाथ का अधिक ध्यान काया शोधन की ओर ही था, जो कतिपय आसनों व एक संयत जीवन का भी परिणाम हो सकता है और इनकी योग साधना की प्रणाली में अधिकतर उन्हीं बातों का समावेश था जो सहजयोग में पायी जाती है। सन्तों में प्रायः इन सभी साधनाओं का कुछ न कुछ स्वरूप ही मिल ही जाता है यद्यपि यह नहीं कहा जा सकता है कि संत काव्य नाथपंथी सांधन की पूर्ण स्वीकृति है।

ग्रन्थ – सूची

"गोरखबानी", का संत–काव्य पर प्रभाव

उत्तरी भारत की संत परम्परा	डा0 परशुराम चतुर्वेदी भारत भण्डार, प्रयाग 2008 वि0
कौलज्ञान निर्णय	डा0 प्रबोध चन्द्र बागची कलकत्ता, 1934
कबीर की विचार धारा	डा0 त्रिगुणायन
कबीर	डा0 हजारी प्रसाद द्विवेदी बम्बई, 1950
कबीर ग्रन्थावली	डा0 श्याम सुन्दर दास ना0प्र0 सभा, काशी सं0 2008
कबीर साहित्य की परख	डा0 परशुराम चतुर्वेदी सं0 2011
कबीर के काव्य रूप	डा0 नजीर मुहम्मद भारत प्रकाशन मन्दिर अलीगढ, 1970
जायसी ग्रन्थावली	रामचन्द्र शुक्ल बनारस सं0 2008
गोरखबानी	डा0 पीताम्बर दत्त बडथ्वाल हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग द्वितीय तथा तृतीय सस्करण

गोरखनाथ और उनका युग	डा0 रांगेय राघव, राकेश प्रेस कश्मीरी गेट, दिल्ली, 1963
गोरख दर्शन	मूल लेखक श्री अक्षय कुमार सं0 डा0 भगवती प्रसाद सिंह (अप्रकाशित)
"गोरखबानी" परम्परा और काव्यत्व	डा0 मनीषा शर्मा, राधाकृष्ण प्रकाशन, 1985
गोरखनाथ एण्ड हिन्दू मिस्टिसिज्म	डा0 मोहन सिंह, लाहोर 1937
गोरखनाथ एण्ड द कनफटा योगीज	डा0 जे0 डब्लयू ब्रिग्स ओक्सफोर्ड यूनीर्वसीटी लन्दन प्रेस, 1938
गोरख सिद्धान्त संग्रह	गोपीनाथ कविराज, सन् 1925
निर्गुण साहित्य	डा0 मोती सिंह, नागरीय प्रचारिणी सभा वाराणसी, सं0 1962
नाथ पंथ के हिन्दी कवि	डा0 एच पी चंदोला, लखनऊ 1956
नाथ सम्प्रदाय	डा0 हजारी प्रसाद द्विवेदी लोक भारतीय प्रकाशन, प्रयाग 1950
नाथ साहित्य या गोरखबानी	भगवती प्रसाद सिंह, सं0 1957
नाथ और संत साहित्य	नागेन्द्रनाथ उपाध्याय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय प्रकाशन 1965
नाथ सिद्धों की बानियाँ	ना0प्र0 सं0, काशी, सं0 2014

नाथ सम्प्रदाय और निर्गुण संतकाव्य	डा0 कोमल सिंह सोलंकी विनोद पुस्तक भण्डार, आगरा 1968
निर्गुण काव्य दर्शन	डा0 सिद्धनाथ तिवारी
बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन	भरत सिंह उपाध्याय, बंगाल हिन्दी मंडल कलकत्ता 1954 सम्वत् 201
दर्शन दिग्दर्शन	डा0 राहुल सांकृत्यायन
बौद्ध गान ओ दोहा	स0म0म0प0 हरप्रसाद शास्त्री बंगाब्ध 1958
भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी	चाटुर्ज्या, सुनीति कुमार हिन्दी, राजकमल, 1957
भारतीय दर्शन का इतिहास	डा0 एस0एन0दास गुप्ता राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ, एकादमी जयपुर, 1988
भारतीय दर्शन की रूपरेखा	प्रो0 हरेन्द्रनाथ शर्मा
भारतीय दर्शन	डा0 बलदेव उपाध्याय द्वितीय संस्करण काशी 1945
मध्यकालीन धर्म साधना	डा0 हजारी प्रसाद द्विवेदी साहित्य भवन इलाहाबाद 1956
योग सम्प्रदाय विष्कृति	चन्द्रनाथ योगी, अहमदाबाद 1925

विभुक्त मंजरी	डा0 राहुल सांकृत्यायन
शोध प्रविधि	डा0 विनय मोहन शर्मा, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली दरियागंज, 1980
सुधाकर चन्द्रिका	आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी
सिद्ध साहित्य	डा0 धर्मवीर भारती, किताब महल इलाहाबाद, 1955
सन्त बानी संग्रह	भाग (1) इलाहाबाद 1938
सन्त बानी संग्रह	भाग (2) इलाहाबाद 1938
सिद्ध सिद्धान्त संग्रह	गोपीनाथ कविराज, बनारस 1925
स्टडीज इन द तन्त्राज	डा0 प्रबोध चन्द्र बागची कलकत्ता, 1939
सिद्ध	डा0 कल्याणी मलिक
सिद्धान्त पद्धति	बनारस, 1925
हिन्दी साहित्य का	डा0 रामकुमार वर्मा, नारायन
आलोचनात्मक इतिहास	लाल बैनी माघव इलाहाबाद, 1955
हिन्दी काव्यधारा	राहुल सांकृत्यायन, इलाहाबाद 1945
हिन्दी साहित्य कोष भाग (2)	वाराणसी ज्ञान मण्डल लि0 वाराणसी पहला भाग 1973
हिन्दी साहित्य का आदिकाल	डा0 हजारी प्रसाद द्विवेदी पटना 1951 ई0

हिन्दी साहित्य का इतिहास	डा0 नगेन्द्र, साजिल्द संस्करण नेशनल पब्लिशिंग हाउस
हिन्दी साहित्य की भूमिका	डा0 हजारी प्रसाद द्विवेदी हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर बम्बई 1950
हिन्दी साहित्य का वृहद इतिहास (प्रथम भाग)	सं0 2003 ना0प्र0स0 काशी, सं0 2014
हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय	डा0 पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल
